

# 1857, आरम्भिक देशभक्ति और प्रगतिशीलता

— दीपायन बोस

1857 पर, विशेषकर पिछले पचास वर्षों के दौरान, मार्क्सवादी विद्वानों और इतिहासकारों ने काफी कुछ लिखा है। पहले जिन मार्क्सवादियों में मार्क्स के भारत विषयक प्रेक्षणों से ही ऐतिहासिक मूल्यांकन का अपना फ्रेमवर्क निर्धारित करने की आदत थी, उनकी अवस्थिति 1857 को लेकर प्रायः अस्पष्ट या अन्तरविरोधपूर्ण हुआ करती थी। और बाद के मार्क्सवादियों में तथ्यबहुलता और पल्लवग्राहिता की प्रवृत्ति हावी रही है। या तो तथ्यों के मनमाने चयन के आधार पर निष्कर्ष दिये जाते रहे हैं, या फिर तमाम तथ्य देने के बावजूद सामान्य सूत्रीकरणों से बचा जाता रहा है, या फिर इस ऐतिहासिक महाघटना के किसी एक पहलू या कुछ पहलुओं पर विचार करके इतिश्री कर ली जाती है।

भारतीय इतिहास-विषयक विभिन्न बहसों में यूरोकेन्द्रिकता का विरोध करते हुए प्रायः यूरोकेन्द्रिकता का ही शिकार हो जाने की प्रवृत्ति देखने को मिलती है और 1857 के सन्दर्भ में भी ऐसा होता रहा है। यूरोप में, खासकर पश्चिमी यूरोप में पूँजीवाद का विकास-पथ 'पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति' ('रिनेसाँ-एनलाइटेनमेण्ट-रिवोल्यूशन') का क्रम था। औपनिवेशिक भारत में भी इसी का समतुल्य या प्रतिरूप ढूँढ़ते हुए कतिपय सुधारवादी राष्ट्रवादी से लेकर मार्क्सवादी इतिहासकारों तक ने 'बंगाल रिनेसाँ' का आविष्कार कर डाला, तो हिन्दी पट्टी के गौरव की येन-केन-प्रकारेण स्थापना के लिए व्याकुल रामविलास शर्मा ने हिन्दी नवजागरण की स्थापना प्रस्तुत कर दी और 1857 के महासंग्राम को उसका प्रस्थान-बिन्दु घोषित कर दिया। इन स्थापनाओं के अन्तरविरोधों और इनमें निहित मनोगतता एवं आधिभौतिकता का विश्लेषण एक विशद प्रबन्ध का विषय है और प्रदीप सक्सेना ने इस महत् दायित्व का अपनी पुस्तक '1857 और नवजागरण के प्रश्न' में काफी हद तक सफल निर्वाह किया है। राष्ट्रीय गौरव की स्थापना के लिए, भारतीय इतिहास में यूरोपीय इतिहास का प्रतिरूप गढ़ते हुए उपरोक्त श्रेणी के विद्वान इस बात पर ध्यान ही नहीं देते कि पूँजीवादी विकास का पथ और प्रकृति उपनिवेशों में यूरोपीय महाद्वीप से काफी भिन्न थी और अलग-अलग ऐतिहासिक विशिष्टताओं के अनुसार एशिया, अफ्रीका, लातिन अमेरिका के देशों में भी इस सन्दर्भ में मूलभूत भिन्नताएँ थीं। भिन्नताएँ इस हिसाब से भी थीं कि कौन देश किस देश का उपनिवेश था, क्योंकि सभी उपनिवेशवादियों की नीतियाँ एक समान न थीं। उपरोक्त इतिहासकार और विद्वान इस तथ्य पर भी ध्यान नहीं देते कि रूस में, कुछ पूर्वी यूरोपीय देशों में, और जापान में भी, पूँजीवादी विकास का रास्ता हू-ब-हू 'पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति' का रास्ता नहीं था। इन देशों में पुनर्जागरण और प्रबोधन के स्थानापन्न सामाजिक-सांस्कृतिक-विचारधारात्मक आन्दोलनों के अन्य रूप देखने को मिलते हैं। यूरोपीय पुनर्जागरण और प्रबोधन के संघटक अवयव इन आन्दोलनों में अलग ढंग से संघटित हुए थे। और सभी जगह पूँजीवाद क्रान्ति के द्वारा आया भी नहीं। कहीं यह 'नीचे से' और (मार्क्स के शब्दों में) "क्रान्तिकारी ढंग से" आया तो कहीं 'ऊपर से' या 'क्रमिक विकास' की प्रक्रिया में या गैर-क्रान्तिकारी ढंग से विकसित हुआ। जहाँ यह दूसरे ढंग से आया, वहाँ पूँजीवाद का चरित्र अधिक जनविरोधी था, वहाँ के राज्य और समाज में जनवाद के तत्त्व बहुत कम थे, वहाँ पूँजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों के वर्चस्व के बावजूद, उनके अधीनस्थ प्राक्-पूँजीवादी संरचनाओं की मौजूदगी बनी हुई थी तथा वहाँ प्राक्-पूँजीवादी अधिरचना को पूरी तरह से ध्वस्त करने के बजाय उसके तमाम मूल्यों-संस्थाओं को पूँजीवाद ने अन्तर्भेदन-अधीनीकरण-परिष्कार के द्वारा अपने अनुरूप बनाकर अपना लिया था। यूरोपीय पुनर्जागरण-प्रबोधन की प्रक्रिया के बजाय, उपनिवेशों में जनवाद और राष्ट्रवाद के मूल्य राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तर्गत चलने वाले साम्राज्यवाद-सामन्तवाद विरोधी संघर्षों के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। इनकी वाहक सामाजिक शक्तियाँ उसी औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना में पैदा हुई थीं, जिसे इन देशों की अपनी सामाजिक-आर्थिक संरचना को व्यवस्थित ढंग से नष्ट करके, इनकी नैसर्गिक आन्तरिक विकास-प्रक्रिया को नष्ट करके, ऊपर से आरोपित किया गया था। औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना में पैदा हुए और साम्राज्यवादी विश्व-परिवेश में पले-बढ़े, विकलांग-बौने पूँजीवाद के मानववाद, जनवाद, यथार्थवाद और वैज्ञानिक तर्कणा के मूल्य यदि जन्मना ही पक्षाघात के शिकार थे तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। उपनिवेशों में, (निश्चय ही अलग-अलग ढंग से और अलग-अलग परिमाण में) पूँजीवादी

जनवादी क्रान्तियों के कार्यभार एक दुःसह-यन्त्रणादायी ढंग से क्रमिक विकास की प्रक्रिया में और आधे-अधूरे ढंग से पूरे हुए और सत्तासीन होने के बाद भी इन देशों के पूँजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद नहीं किया। यह इतिहास की वस्तुगत सच्चाई है जिससे मुँह मोड़कर और किसी किसिम के काल्पनिक चिन्तन का सहारा लेकर “खोये हुए राष्ट्रीय गौरव” की खोज करना एकदम व्यर्थ है। भारतीय जनता के पास वर्ग-संघर्ष के सातत्य का गौरव है, पर उस गौरव का मनोगत महिमामण्डन करते हुए इतिहास के रंगमंच की सीमाओं और तज्जनित्र त्रासदियों की अनदेखी नहीं की जानी चाहिए। इतिहास की सहस्राब्दियों से जारी दौड़ में कुछ शताब्दियों के लिए कोई क्षेत्र/देश/राष्ट्र आगे रहे तो कभी कोई और। इसका भी अपना एक ऐतिहासिक-वैज्ञानिक तर्क है। पूँजीवाद, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के दौर में पुरातन सभ्यता-संस्कृति वाले तथा प्रचुर प्राकृतिक सम्पदा एवं सामाजिक सम्पदा वाले कुछ देश (जैसे भारत) विशिष्ट वस्तुगत ऐतिहासिक कारणों से (जिनकी चर्चा यहाँ सम्भव नहीं) पीछे छूट गये। अब ऐसे ही देश विश्व-पूँजीवाद विरोधी सर्वहारा क्रान्ति के नये “हॉट स्पॉट्स” हैं जो भविष्य में “फ्लैश प्वाइण्ट्स” बनेंगे। सर्वहारा क्रान्ति के प्रथम संस्करणों की विफलता से विश्व इतिहास की इस बुनियादी गति पर कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा। भारत जैसे देशों के औपनिवेशिक अतीत के चलते फ़र्क बस इतना पड़ा है कि राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान और 1947 के बाद क्रमिक विकास-प्रक्रिया के गैर-क्रान्तिकारी मार्ग से और आधे-अधूरे ढंग से जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों के पूरा होने की जो त्रासदी घटित हुई, उससे पैदा हुई विकृतियों को दूर करने और विगत दौर के छूटे हुए कार्यभारों के ‘बैकलॉग’ को निपटाने की जिम्मेदारी अब भावी नयी सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति के कन्धों पर है। सांस्कृतिक-वैचारिक आन्दोलन की एक गहन प्रक्रिया और सुदृढ़ वैचारिक-सांस्कृतिक आधार के बिना इस क्रान्ति की वाहक शक्तियाँ निश्चय ही इस काम को पूरा नहीं कर सकतीं। और इसके लिए मनमाने सूत्रीकरणों और “भारत-व्याकुल-हृदय” होने की जगह इतिहास के प्रति एक वस्तुपरक रुख अपनाना ज़रूरी है। दूसरी बात, राष्ट्रीय गौरव-स्थापना के लिए द्रविड़ प्राणायाम करते हुए विश्व-ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की भी अनदेखी और विश्व-इतिहास की मनमानी व्याख्या नहीं की जा सकती। “हिन्दी नवजागरण” के आविष्कर्ता रामविलास शर्मा और उनके अनुयायी तथा मनमाने ढंग से अवस्थितियाँ बदलते रहने वाले और “बंगाल नवजागरण” का महत्त्व-प्रतिपादन करने वाले नामवर सिंह ने तो ऐसा किया ही है, कई मार्क्सवादी इतिहासकार भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। इसी दोष का एक सह-उत्पाद यह है कि विशिष्ट यूरोपीय ऐतिहासिक घटनाओं-परिघटनाओं-प्रवर्गों के जूते के हिसाब से भारतीय ऐतिहासिक तथ्यों के पैर प्रकारान्तर से वे लोग भी काटने लगने हैं जो प्रकटतः “भारतीय गौरव के अतिशय आग्रही” प्रतीत होते हैं। 1857 के महासंग्राम की महत्ता और इतिहास पर पड़े उसके प्रभावों के वस्तुपरक मूल्यांकन के लिए इस प्रवृत्ति-दोष और पद्धति-दोष से मुक्त होना ज़रूरी है।

यहाँ इस ऐतिहासिक घटना के जिन पहलुओं पर विचार किया जा रहा है, वे कम से कम एक सुदीर्घ शोध-निबन्ध के कलेवर का आग्रह करते हैं। यदि पूर्वप्रस्तुत स्थापनाओं को लेकर खण्डन-मण्डन यानी ‘पॉलिमिक्स’ की शैली अपनायी जाये, तब तो एक पुस्तकाकार शोध-प्रबन्ध की दरकार होगी। अतः आग्रह है कि पाठकगण इसे एक शोध-प्रबन्ध की ‘सिनाॅप्सिस’ मानकर पढ़ें जिसमें कुछ आधारभूत अवधारणाओं को सूत्रवत प्रस्तुत किया गया है।



1857 के महाविद्रोह की पूर्वपीठिका के रूप में वैज्ञानिक तर्कणा, भौतिकवाद और जनवाद के वैसे नये मूल्य मौजूद नहीं थे, जैसा फ़्रांसीसी क्रान्ति की पृष्ठभूमि के तौर पर दिदेरो, वाल्टेयर, रूसो और मोन्तेस्क्यू के विचारों के रूप में या अमेरिकी क्रान्ति की पृष्ठभूमि के तौर पर टॉमस पेन, बेंजामिन फ्रैंकलिन, वाशिंगटन, जेफ़र्सन आदि के विचारों के रूप में या फिर उन्नीसवीं शताब्दी के रूस में बेलिंस्की, हर्ज़न, चेर्निशेव्स्की, दोब्रोव्स्की जैसे क्रान्तिकारी जनवादी विचारकों के जुझारू भौतिकवादी विचारों के रूप में मौजूद थे। इसके पीछे साम्राज्यवाद-विरोध की वैसी सुसंगत वैचारिक सोच का आधार भी मौजूद नहीं था, जैसा लातिन अमेरिका में साइमन बोलिवार (1783-1830) ने या क्यूबा के विशिष्ट सन्दर्भ में होसे मार्ती (1853-1895) ने तैयार किया था। आज इसे मात्र सैनिक विद्रोह कोई नहीं मानता। इसकी मुख्य ताक़त किसान और फिर छोटे दस्तकार थे। लेकिन उनका कोई ऐसा दृष्टिसम्पन्न केन्द्रीय नेतृत्व नहीं था जिसके पास भविष्य की शासन-व्यवस्था एवं सामाजिक ढाँचे के बारे में कोई सुविचारित रूपरेखा हो। नेतृत्व में मुख्यतः अलग-अलग क्षेत्रों के छोटे-मँझोले सामन्त दिखायी देते हैं। तब फिर सवाल उठता है कि किस आधार पर इसे एक प्रगतिशील ऐतिहासिक घटना माना जाये? क्या यह मात्र एक जनविद्रोह था, जो विगत जनविद्रोहों से सिर्फ़ इस मायने में भिन्न था कि इसका स्वरूप अतीत के उपनिवेशवाद-विरोधी जनविद्रोहों से काफ़ी व्यापक, लगभग देशव्यापी था? यदि यह विद्रोह सफल हुआ होता तो क्या भारत उपनिवेशवाद की आधुनिक बुराई को छोड़कर मध्ययुगीन बुराई की जकड़बन्दी का शिकार हो जाता? इस प्रश्न का उत्तर ढूँढते हुए हमें इस प्रश्न से भी जूझना ही होगा कि क्या मध्यकालीन भारतीय समाज में पूँजीवादी विकास के भ्रूण या आन्तरिक गतिकी मौजूद थी? 1857 का महासंग्राम क्या ‘पुराने भारत’ का अन्तिम प्रतिरोध-संघर्ष मात्र था या इसमें राष्ट्रवाद की प्रारम्भिक अभिव्यक्ति भी देखी जा सकती है? यहाँ हमें देशभक्ति (पैट्रियाटिज़्म)

और राष्ट्रवाद (नेशनलिज़्म) के बीच के अन्तर पर भी ध्यान देना होगा।

1857 के महत्त्व और महानता को सही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए उपनिवेशीकरण की परिघटना को, सामान्य और फिर विशिष्ट भारतीय परिप्रेक्ष्य में सांगोपांग समझना होगा। इस सम्भावना पर भी विचार करना होगा कि यदि भारत उपनिवेश नहीं बन जाता तो क्या यहाँ भी अपनी स्वतन्त्र आन्तरिक गति से पूँजीवादी विकास की सम्भावना थी? इसी से जुड़ा प्रश्न यह भी है कि यदि 1857 में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की पराजय हो जाती तो फिर भारत की कैसी तस्वीर होती? यह अटकलबाज़ी की बात नहीं है, बल्कि इतिहास के वैज्ञानिक तर्क पर आधारित सम्भावनाओं की प्रायिकता पर विचार करने की बात है। आगे हम देखेंगे कि यह प्रश्न किस प्रकार 1857 की अर्थवत्ता-महत्ता के आकलन से जुड़ा हुआ है।

यहाँ हम मुगलकालीन भारत की स्थिति पर संक्षेप में अपने विचार रखेंगे और देखेंगे कि उपनिवेश न बनने की स्थिति में, मध्ययुगीन आर्थिक-सामाजिक संरचना के विघटन के साथ ही भारतीय समाज के पूँजीवादी विकास-पथ पर अग्रसर होने की सम्भावना किस हद तक मौजूद थी। मार्क्सवादी इतिहासकारों के बीच एक बहस यह भी रही है कि मध्यकालीन भारत की सामाजिक-आर्थिक संरचना सामन्ती मानी जाये या नहीं। यूरोपीय सामन्तवाद के बारे में मार्क्स की विवेचना के आधार पर इरफ़ान हबीब और हरबंस मुखिया जैसे इतिहासकार मध्ययुगीन भारत में सामन्तवाद की उपस्थिति से इन्कार करते हैं, जबकि अधिकांश सोवियत इतिहासकार, डी.डी. कोसम्बी, सतीश चन्द्र आदि मध्ययुगीन भारत को सामन्ती ही मानते हैं। हमारा भी यही मत है कि यूरोप से भिन्नता और अपनी विशिष्टताओं के साथ, भारतीय इतिहास का मध्ययुग सामन्तवाद का ही युग था, लेकिन यहाँ इस बहस को हम पूरी तरह से छोड़ देते हैं। देखना यह है कि मध्यकालीन भारत में चाहे जिस कोटि की भी प्राक्-पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक संरचना मौजूद थी, उसकी आन्तरिक गतिकी क्या थी और उसमें पूँजीवाद के बीज या विकास-दिशा के संकेतक उपस्थित थे या नहीं!

क्या मुगलकालीन भारत में पूँजीवादी सम्बन्ध विकसित हो रहे थे! इस प्रश्न के विविध पहलुओं पर गत शताब्दी में साठ के दशक से लेकर अबतक, शायद सबसे सूक्ष्म और व्यापक ढंग से इरफ़ान हबीब ने विचार किया है। उन्होंने मध्यकालीन भारत के गाँवों में किसान आबादी के विभेदीकरण, वर्गों एवं वर्ग संघर्ष के रूप में मौजूद समाज की आन्तरिक गतिकी, नकदी लगान, माल-मुद्रा सम्बन्धों के विकास, शहरों और गाँवों में दस्तकारियों के विकास, विज्ञान और तकनोलॉजी के विकास की समस्याओं आदि की सविस्तर चर्चा की है, लेकिन जहाँ तक मूल प्रश्न का सम्बन्ध है, उसका वे नकारात्मक उत्तर देते हैं। हरबंस मुखिया तो उनसे भी कुछ क़दम आगे जाकर, मध्यकालीन भारतीय समाज में किसी भी प्रकार की ऐतिहासिक गतिशीलता से ही इन्कार करते हैं, यानी उनके लेखे, ब्रिटिश उपनिवेशवाद के बिना प्राक्-औपनिवेशिक भारत में पूँजीवाद का विकास ही सम्भव नहीं था। सतीश चन्द्र और तपन रायचौधुरी जैसे इतिहासकार तथा रेसनर और पाब्लोव जैसे अधिकांश सोवियत इतिहासकार यह तो मानते हैं कि प्राक्-औपनिवेशिक भारत अभी पूँजीवाद के विकास-पथ पर आगे (यानी दस्तकारी से मैनुफ़ैक्चरिंग के विकास की आम दिशा में) नहीं बढ़ सका था तथा किसी किसिम की औद्योगिक क्रान्ति तत्कालीन भारतीय समाज में आसन्न नहीं थी, वे पूँजीवादी विकास के मार्ग की कतिपय बाधाओं-समस्याओं को स्वीकार भी करते हैं, लेकिन साथ ही वे पूँजीवाद के उन भ्रूणों और पूँजीवादी विकास की उन सम्भावनाओं पर भी बल देते हैं, जिन्हें पूर्ण उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया ने कोख में ही कुचल दिया। इन सबसे अलग रामविलास शर्मा और उनके अनुयायी हैं जो उत्पादन-सम्बन्धों की जगह विनिमय-सम्बन्धों पर बल देते हुए तीव्र वाणिज्यिक गतिविधियों को ही वाणिज्यिक पूँजीवाद और फिर वाणिज्यिक पूँजीवाद को ही पूँजीवाद मानते हुए भारत में पूँजीवादी विकास की कालावधि को खींचकर काफ़ी पीछे ले जाते हैं और ऐसा करते हुए वे न केवल मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की ऐसी-तैसी कर डालते हैं बल्कि नवजागरण की अपनी अवधारणा को स्वयं ही अन्तरविरोधों के भँवरजाल में फँसा देते हैं।

यहाँ इन सभी अवस्थितियों पर विचार या इनकी समालोचना प्रस्तुत करना हमारा विषय नहीं है। हम अपनी स्थापना रखते हुए इनकी मात्र प्रसंगवश चर्चा एवं आलोचना करेंगे और इन सबकी शुरुआत कार्ल मार्क्स के बहुविवादित भारत-विषयक विचारों की चर्चा से करना ही सबसे सटीक होगा। सबसे पहली बात यह कि भारत कभी भी मार्क्स के शोध-अध्ययन का केन्द्रीय विषय नहीं था। अपनी स्वाभाविक वैज्ञानिक दृष्टि से, उपलब्ध हो सकी सीमित स्रोत-सामग्री के अध्ययन के आधार पर (विविध प्राक्-पूँजीवादी संरचनाओं पर विचार करते हुए) मार्क्स ने प्राक्-औपनिवेशिक भारत के बारे में, भारतीय ग्राम समुदायों की आत्मनिर्भरता, भूमि के सामूहिक स्वामित्व, एशियाई उत्पादन-प्रणाली और प्राच्य निरंकुशता के बारे में तथा भारत में पूँजीवादी विकास की कारक-शक्ति के रूप में उपनिवेशवाद की भूमिका के बारे में कुछ प्रस्थापनाएँ दी थीं। इन सभी विषयों पर उपलब्ध नयी आधार-सामग्री ने खासकर विगत आधी शताब्दी के दौरान, मार्क्स की उपरोक्त प्रस्थापनाओं में महत्त्वपूर्ण संशोधन को अपरिहार्य और मार्क्सवादी विचारकों के बीच लगभग आम सहमति का विषय बना दिया है। महत्त्वपूर्ण यह भी है कि इन प्रस्थापनाओं को लेकर स्वयं मार्क्स और एंगेल्स के मन में भी संशय और दुविधा की स्थिति उत्पन्न होती रही और अपने जीवन-काल में ही उन्होंने उनमें कई महत्त्वपूर्ण संशोधन भी किये।

मार्क्स का सामान्य वैज्ञानिक अप्रोच यह था कि भारतीय इतिहास का अध्ययन उसकी विशिष्टताओं के आधार पर किया जाना चाहिए। सबसे पहली विशिष्टता (उपलब्ध स्रोत-सामग्री के आधार पर, 1850 के दशक में) उन्होंने यह देखी कि किसान परिवारों द्वारा निजी रूप में खेती की जाने के बावजूद ग्राम समुदाय और जाति के बन्धन किसानों और देहाती दस्तकारों को एक सामाजिक-आर्थिक इकाई में बाँधकर रखते थे और यहाँ यूरोपीय भूदासता जैसी किसी किसिम की व्यक्तिगत अधीनस्थता के बजाय पूरे ग्राम समुदाय की ही अधीनस्थता हुआ करती थी। अब उपलब्ध तथ्य-सामग्री ने लगभग निर्विवाद रूप से यह सिद्ध कर दिया है और अग्रणी मार्क्सवादी इतिहासकारों में इस स्थापना पर आम सहमति है कि एक विच्छिन्न-विशिष्ट आर्थिक-सामाजिक इकाई होने के बावजूद भारतीय गाँवों के जनसमुदाय में श्रेणी-विभाजन या स्तर-विन्यासीकरण मार्क्स की सोच से कहीं बहुत अधिक था और वहाँ के सामुदायिक जीवन में गतिहीनता या निश्चलता की उनकी धारणा ठीक नहीं थी। यहाँ भी वर्ग-विभेद जनित टकरावों की आन्तरिक गति किसी न किसी रूप में मौजूद थी। व्यक्तिगत अधीनस्थता सामूहिक अधीनस्थता के साथ विविध रूपों में जुड़ी हुई थी। राजस्व वसूलने के अधिकार के चलते गाँवों पर नियन्त्रण रखने वाले बड़े लोगों ने कालान्तर में समृद्ध होने के साथ ही (खुदकाशत और मीरासदार के तौर पर) अपनी ज़मीन पर भाड़े के श्रम से खेती करानी शुरू कर दी थी। व्यक्तिगत अधीनस्थता का प्रमुख उपकरण जाति-व्यवस्था थी जिसने ग्रामीण सर्वहारा का विशाल वर्ग संघटित किया था। इसके अतिरिक्त, छोटे पैमाने के निजी उत्पादन ने भी अनिवार्य तार्किक परिणति के रूप में आर्थिक विभेदीकरण को जन्म दिया था। तथ्य बतलाते हैं कि हालाँकि राज्य के अधिकार जागीरों के सुपुर्ददारों के ज़रिये अमल में आने के नाते किसानों का स्थानान्तरण वैधिक रूप से प्रतिबन्धित था, लेकिन व्यवहारतः किसान वर्ग में पर्याप्त क्षैतिज और ऊर्ध्वाधर गतिशीलता थी।

भारत में भूदासता की अनुपस्थिति पर बल देते हुए मार्क्स इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि पूरे एशिया में लगान (रेण्ट) और कर (या राजस्व) के एकीभूत हो जाने के कारण यहाँ राज्य ही भूस्वामी था और ऐसी स्थिति में सामान्य अधीनस्थता के दबाव के अतिरिक्त जनता पर किसी अन्य राजनीतिक-आर्थिक दबाव की आवश्यकता नहीं थी। यहाँ फिर, नये शोध मार्क्स की एतद्विषयक अवधारणा में कुछ संशोधन की आवश्यकता उत्पन्न कर देते हैं। मार्क्स की सोच से अलग, गाँवों का अतिरिक्त उत्पादन समग्रतः राज्य (या उसके सुपुर्ददारों) के हाथ में नहीं जाता था, बल्कि वंशानुगत रूप से लगान में हिस्सा बाँटने वाला एक समूचा वर्ग मौजूद था जिसे मुगलकाल में ज़मींदार कहा जाता था। किसान ज़मींदार को ज़मीन का मालिक समझते थे और ज़मींदार उन्हें ज़मीन से बेदखल भी कर सकते थे। सोलहवीं शताब्दी तक ज़मींदारी का अधिकार विक्रेय हो चुका था। ज़ाहिर है कि इसमें सम्पूर्णतः नहीं तो अंशतः निजी भूस्वाम्य का तत्त्व है (और यही बात मीरासदारों और खुदकाशतों की ज़मीन के बारे में भी कही जा सकती है)। इस स्थिति का सामंजस्य एशियाई उत्पादन-प्रणाली की मार्क्स द्वारा प्रस्तुत अवधारणा (या किसी भी प्रचलित अवधारणा) के साथ नहीं बैठाया जा सकता। यह उस सामन्ती भूस्वामित्व के साथ अधिक सापेक्षिक निकटता रखता है, जो 'फीफ़' और 'मेनर' प्रणालियों के लोप के उपरान्त यूरोप में पैदा हुआ था।

यूँ कहें कि ग्राम समुदाय सामुदायिक समरसता और निश्चलता के बजाय स्तर-विन्यास (वर्ग-विभाजन) और अलग-अलग सामाजिक श्रेणियों/वर्गों के अन्तरविरोधों-टकरावों से युक्त था और जहाँ तक पूरे समाज के बुनियादी अन्तरविरोध की बात है, वह सिर्फ़ ग्राम समुदाय के किसानों-दस्तकारों और केन्द्रीभूत राज्य के बीच ही नहीं, बल्कि ग्राम-समुदायों और ज़मींदारों व केन्द्रीभूत राज्य के बीच तथा ज़मींदारों और केन्द्रीभूत राज्य के बीच भी था। आज यह स्थापना निर्विवाद है कि मुगल साम्राज्य का पतन मूलतः कृषि संकट के कारण हुआ। केन्द्रीभूत निरंकुश सत्ता पर किसान विद्रोहों का दबाव बढ़ा तो ज़मींदारों ने अक्सर इन विद्रोहों का नेतृत्व (सजातीय बड़े किसानों, मीरासदारों आदि की सहायता से) कब्ज़ा लिया और साम्राज्य के केन्द्रीभूत निरंकुशतावाद के पतन के बाद उन्होंने (यानी ज़मींदारों ने) किसानों पर अपने अधिकार को व्यापक एवं सुदृढ़ बना लिया। तात्पर्य यह कि हर समाज की तरह भारतीय समाज में भी वर्ग-संघर्ष की अपनी गतिकी मौजूद थी।

मार्क्स ने समूचे एशिया में सामाजिक संगठन की अपरिवर्तनशीलता के दो प्रमुख आधार माने थे : ग्राम समुदाय और प्राच्य निरंकुशतावाद। ग्राम समुदाय की चर्चा के बाद, प्राच्य निरंकुशतावाद के सन्दर्भ में कुछ बातें। मार्क्स ने राज्य द्वारा सिंचाई के साधनों के विकास को कर-लगान का आर्थिक आधार माना था। लेकिन तथ्य बताते हैं कि कृषि के विस्तार के लिए किये गये सभी उपाय और उनके प्रभाव काफी सीमित थे। यानी राज्य की अधीनस्थता की सामान्य स्वीकृति के बजाय किसानों से कर-लगान की वसूली में विविध दबावों की अहम भूमिका थी। फिर भी यह सही है कि केन्द्रीभूत निरंकुशतावाद कर-लगान की वसूली के लिए ज़रूरी था। इस केन्द्रीभूत निरंकुशतावाद में वित्तीय दबाव लगातार बढ़ाने की प्रवृत्ति थी। इसके विरुद्ध किसान आबादी भी थी और ज़मींदारों के हित भी इससे टकराते थे। किसान विद्रोहों के चलते जब साम्राज्यीय व्यवस्था का विघटन हुआ तो केन्द्रीभूत निरंकुशतावाद का भी पराभव हो गया और ज़मींदारों ने किसानों पर अपने अधिकारों का (सामन्ती ढंग से) विस्तार कर लिया।

यहाँ यह उल्लेख ज़रूरी है कि एशियाई उत्पादन-प्रणाली की परिवर्तन-विषयक मार्क्स-एंगेल्स की अवधारणा में संक्रमणशीलता के द्योतक अन्तरविरोध शुरू से ही मौजूद थे। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों तक दोनों अपनी सोच में निरन्तर

बदलाव लाते रहे। स्वयं मार्क्स के ही भारत-विषयक लेखन से यह आभास होता है कि ऐसी कोई निश्चल, गतिहीन प्रणाली शायद ही कभी अस्तित्व में रही हो। स्वयं मार्क्स ने इस बात का उल्लेख किया है कि प्राक्-औपनिवेशिक भारत में सामुदायिक कृषि व्यवस्था का व्यक्तिगत कृषि व्यवस्था में रूपान्तरण हुआ था। दूसरे, इस्लामी राज्य व्यवस्थाओं के आगमन के बाद, कर-लगान के सन्दर्भ में राज्य के अधिकार के विस्तार के तथ्य को भी उन्होंने स्वीकार किया था।

तीसरी बात, उपभोक्ता सामग्री के व्यापक प्रसार के बिना केन्द्रीभूत राजस्व ढाँचे की बात नहीं सोची जा सकती। मध्यकाल में वाणिज्य के पर्याप्त विकास, बैंकिंग, बीमा तथा सुदूर बाजारों के लिए उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में माहिर शहरी केन्द्रों के विकास को इसी आधार पर समझा जा सकता है। मार्क्स मौद्रिक सम्बन्धों को आर्थिक संगठन का एक महत्वपूर्ण पक्ष मानते थे। और समूची उत्पादन प्रणाली में उपरोक्त बदलाव के लिए मुद्रा के रूप में लगान के भुगतान को एक बुनियादी कारक मानते थे (जो समूचे मुगलकाल की भूमि व्यवस्था की एक बुनियादी अभिलाक्षणिकता थी)। इसी के साथ ज़मींदारी के अधिकार के विक्रेय हो जाने की स्थिति को भी जोड़कर देखा जाना चाहिए। जाहिर है कि प्राक्-औपनिवेशिक भारत में उत्पादन के उपभोक्ता वस्तुओं में रूपान्तरण की जिस परिघटना को मार्क्स ने लक्षित किया था, वह बिना दूरगामी सामाजिक परिवर्तनों के सम्भव नहीं था। यहाँ इस चर्चा को और विस्तार में ले जाये बिना हम मूल विषय से सम्बन्धित इस निष्कर्ष को अब सूत्रवत कहना चाहते हैं कि भारतीय ग्राम समुदायों की निश्चलता के बारे में मार्क्स की सोच अन्तिम न होकर निरन्तर परिवर्तनशील थी। उसे एक सतत विकासमान चिन्तन-प्रक्रिया के रूप में देखा जाना चाहिए। अपने उत्तरवर्ती दौर के लेखन में मार्क्स और एंगेल्स ने भारतीय समाज की आन्तरिक गति को स्पष्ट रूप में लक्षित किया था। निश्चय ही, यहाँ प्राच्य निरंकुशता, उत्पादन-प्रणाली के विकास की मन्थरता जैसी एशियाई उत्पादन-प्रणाली की कुछ ऐसी अभिलाक्षणिकताएँ ज़रूर मौजूद थीं, जिनके चलते प्राक्-औपनिवेशिक भारत में, पूँजीवाद के विकास की कुछ बाधाएँ थीं, लेकिन मार्क्सवादी सैद्धान्तिकी किसी भी तरह से इन बाधाओं को अलंघ्य-असम्भव नहीं मान सकती। मार्क्स का यह प्रेक्षण भी सही है कि प्राक्-औपनिवेशिक भारत में सामान्यतः अतिरिक्त उत्पादन ही उपभोक्ता वस्तुओं के रूप में रूपान्तरित होता था और कृषि-अर्थव्यवस्था की आत्मनिर्भरता टूट नहीं पायी थी जिसके चलते नगर और उनका वाणिज्य पूरी तरह से राज्य द्वारा लागू खेती के शोषण की प्रणाली पर निर्भर बने हुए थे, लेकिन उपनिवेश न बनने की स्थिति में, स्वयं अपनी ही आन्तरिक गति से उत्पन्न दबाव इस सीमा को भी तोड़ देता। हमें इस मूल स्थापना को कभी नहीं भूलना चाहिए कि पूँजीवाद विश्व इतिहास की पहली सार्वजनीन (या वैश्विक, या सर्वसमावेशी) उत्पादन-प्रणाली है और इतिहास ने लेनिन की इस प्रस्थापना को सर्वथा सही सिद्ध किया है कि हर प्रकार की प्राक्-पूँजीवादी संरचना को येन-केन-प्रकारेण तोड़ डालने या अधीन कर लेने की क्षमता इसके भीतर निहित है। एक बार जब किसी समाज में माल-उत्पादन की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है और मौद्रिक सम्बन्धों और बाजार का विकास होने लगता है तो तमाम बाधाओं के बावजूद पूँजीवाद का विकास होता ही है, भले ही इसकी गति मन्थर और विकास-प्रक्रिया विलम्बित हो। इस बारे में हम आगे ठोस रूप में चर्चा करेंगे।

मध्यकालीन भारतीय समाज को गतिशून्य नहीं मानते हुए भी हरबंस मुखिया कृषि-उत्पादन की प्रणाली और सामाजिक संघर्ष की कतिपय विशिष्टताओं के मद्देनज़र यह मानते हैं कि उपनिवेशवाद के हस्तक्षेप के बिना, यहाँ किसी और उत्पादन-प्रणाली में रूपान्तरण सम्भव ही नहीं था। यह विचार इतिहास की द्वन्द्वत्मक आन्तरिक गति का ही निषेध करता है और सोवियत इतिहासकार रेसनर और पाव्लोव से लेकर तपन रायचौधुरी, इक्तिदार आलम, सतीश चन्द्र आदि द्वारा प्रस्तुत तथ्य भी इसे सिरे से खण्डित करते हैं। यदि मुखिया की मानें तो उपनिवेश न बनने की स्थिति में भारत शताब्दियों तक मध्ययुग में ही खड़ा रहता, चाहे पूरी दुनिया साम्राज्यवाद के उन्नत चरण तक पहुँचकर एकीकृत विश्व-व्यवस्था ही क्यों नहीं बन जाती। उनके लेखे, भारत में पूँजीवाद केवल उपनिवेशवाद के रास्ते ही आ सकता था। इस दृष्टिकोण से 1857 के महासंग्राम का चरित्र ही स्पष्टतः प्रतिगामी सिद्ध होता है क्योंकि यदि इसमें विजय प्राप्त होती तो भारत में पूँजीवाद या किसी अन्य अग्रवर्ती उत्पादन-प्रणाली में संक्रमण सम्भव ही नहीं होता। मुखिया यहाँ पूँजीवाद में संक्रमण विषयक मार्क्स और लेनिन की कुछ बुनियादी प्रस्थापनाओं की ही नहीं बल्कि रूस और पूर्वी यूरोप के कुछ देशों के इतिहास से अर्जित निष्कर्षों की भी अनदेखी करते हैं।

मुखिया के विपरीत इरफ़ान हबीब प्राक्-औपनिवेशिक भारत के इतिहास को वर्ग-संघर्षों से भरा हुआ मानते हैं। वे यह भी मानते हैं कि केन्द्रीकृत शासक वर्ग और किसान वर्ग के बीच प्रमुख अन्तरविरोध के अतिरिक्त यहाँ (i) राज्य और ज़मींदारों के बीच, (ii) बाहरी क्षेत्रों में जनजातियों और आगे बढ़ रहे किसानों के बीच, (iii) सर्वहारा श्रमिक और शेष समाज के बीच (सम्भावित रूप में) और (iv) कारीगर-शहरी श्रमिक और राज्यसत्ता के बीच (गौण रूप में) अन्तरविरोध मौजूद थे। इरफ़ान हबीब ऐसे समाज में, हालाँकि पूँजीवादी विकास की सम्भावनाओं को सिरे से खारिज नहीं करते, लेकिन इस रास्ते की कई बाधाओं का उल्लेख करते हुए इस प्रश्न को और अधिक शोध के तकाज़े के साथ खुला छोड़ देते हैं। इससे अलग एक धारा उन इतिहासकारों की है जो यह तो मानते हैं कि उपनिवेश बनते समय तक भारत में दस्तकारी से मैनुफ़ैक्चरिंग के विकास

के रूप में पूँजीवादी विकास की प्रक्रिया पूरी नहीं हो पायी थी, लेकिन इसकी सम्भावना, दिशा और पृष्ठभूमि अवश्य ही मौजूद थी।

यहाँ हम इरफ़ान हबीब द्वारा उल्लिखित पूँजीवादी विकास की कुछ प्रतिनिधि समस्याओं-बाधाओं की चर्चा करेंगे और यह स्पष्ट करने की कोशिश करेंगे कि ये समस्याएँ-बाधाएँ पूँजीवादी विकास की गति एवं प्रकृति को प्रभावित तो कर सकती थीं लेकिन रोक नहीं सकती थीं।

प्रो. हबीब के अनुसार, धन निक्षेप, हुण्डियों या विनिमय पत्रों के व्यापक उपयोग, बीमा, वणिक, साहूकारों आदि की व्यापक मौजूदगी और अपार सम्पत्ति एवं जहाज़ों के बेड़ों के मालिक बड़े व्यापारियों की मौजूदगी जैसी विशिष्टताएँ प्राक्-औपनिवेशिक भारत में मौजूद थीं, लेकिन इन्हें व्यावसायिक पूँजीवाद से ही जुड़ा हुआ माना जा सकता है। इनके आधार पर यह कहना कि भारत में पूँजीवाद विकसित हो रहा था, तीव्र वाणिज्यिक क्रिया-कलापों को उत्पादन की पूँजीवादी पद्धति मानने की भूल करना है (और यही भूल रामविलास शर्मा करते हैं)। इरफ़ान हबीब के अनुसार, पूँजीवाद के अंकुरण के लिए आवश्यक बुनियादी पूर्वशर्त – कार्यशाला के अन्तर्गत श्रम का बँटवारा – मौजूद नहीं थी और ऐसी तीव्र गति से तकनीकी सुधार नहीं हो रहे थे कि औज़ार और मशीनें पूँजीपति के नियन्त्रण में आ जायें। दस्तकारी के क्षेत्र में पर्याप्त विकसित व्यापारिक पूँजी दादनी प्रथा के ज़रिये कारीगरों को अपने नियन्त्रण में रखे हुए थी। यानी अर्थव्यवस्था के पर्याप्त मौद्रीकरण के बावजूद घरेलू उद्योग का वर्चस्व कायम था। मुगलकालीन व्यापारियों के कारखानों में मुख्यतः बड़े लोगों के उपभोग की महँगी चीज़ें बनती थीं और ऐसे उत्पादों का कोई बाज़ार ग्रामीण इलाकों में था ही नहीं। कारीगरों को दी जाने वाली बहुत कम मज़दूरी के कारण उनमें ऐसी तकनीक और औज़ार अपनाने की प्रवृत्ति ही नहीं थी जिससे कम श्रम में अधिक काम हो सके। साथ ही सत्ताधारियों और उन पर निर्भर बुद्धिजीवियों ने उत्पादन के लिए सहायक तकनोलॉजी के विकास के लिए कोई ठोस नीति नहीं अपनायी।

अब आइये, इन सभी तर्कों पर सिलसिलेवार विचार करें। एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि दादनी प्रथा (पुटिंग आउट सिस्टम) के माध्यम से व्यापारियों द्वारा कर्ज़, कच्चा माल देने और बाज़ार की ज़रूरत के हिसाब से उत्पादन करवाने के ज़रिये कारीगरों पर नियन्त्रण के अतिरिक्त विकास का एक वैकल्पिक मार्ग भी भारत में मौजूद था, भले ही यह उतना व्यापक नहीं था। यह रास्ता था उत्पादन के संगठनकर्ता तथा व्यापारी और महाजन के रूप में उस्ताद कारीगरों की मौजूदगी। इस विषय पर अभी भी काफ़ी कम काम हुआ है और इरफ़ान हबीब के शोध की एक गम्भीर कमी अन्य क्षेत्रों के छिटपुट हवालों के बावजूद उसका मूलतः और मुख्यतः मुगल साम्राज्य-केन्द्रित और उत्तर भारत-केन्द्रित होना है। लेकिन यदि मुगलकाल से सम्बन्धित उपलब्ध तथ्यों को ही देखें तो अबुल फजल ने भी इसकी चर्चा की है कि अमीर-उमरा और योद्धाओं से नीचे, लेकिन धार्मिक कामों में लगे लोगों और पढ़े-लिखे लोगों से ऊपर, व्यापारियों के साथ-साथ उस्ताद कारीगरों की सामाजिक श्रेणी आर्थिक और सामाजिक रूप से विकसित हो चुकी थी। अकबर के दो उपलब्ध फरमानों में दो उस्ताद-कारिगरो को ज़मीन देने के हवाले से भी इस सामाजिक श्रेणी के तत्कालीन सामाजिक महत्त्व का पता चलता है। बंगाल में ऐसे समृद्ध उस्ताद कारिगर मौजूद थे जो अपनी पूँजी लगाकर और शागिर्द कारिगरो के ज़रिये यानी भाड़े के मज़दूरों के ज़रिये उत्पादन करते थे और उसे बेचते थे। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में अवध में कपड़ों की छपाई करने वाला एक ऐसा उस्ताद प्रिन्टर मौजूद था जिसकी कार्यशाला में पाँच सौ अप्रेण्टिस काम करते थे। कश्मीर के शाल-उद्योग में ऐसे उस्ताद दस्तकार मौजूद थे जिनके पास अपने तीस सौ तक करघे हुआ करते थे। सूत में, बंगाल और बिहार में ऐसे उस्ताद बड़ई भारी तादाद में थे जो अस्थायी कामों के लिए भाड़े पर बढ़इयों को लगाया करते थे। इन आधारों पर, तपन रायचौधुरी का यह कहना सही प्रतीत होता है कि दस्तकारों के पूँजीवादी उद्यमी के रूप में रूपान्तरण के रूप में वाणिज्यिक से औद्योगिक पूँजीवाद में संक्रमण की प्रवृत्ति (जिसे मार्क्स ने पूँजीवादी विकास का 'सच्चा क्रान्तिकारी मार्ग' कहा था) भारतीय परिदृश्य पर अनुपस्थित नहीं थी। स्पष्ट है कि भारतीय समाज में यहाँ-वहाँ कृषि से दस्तकारी और दस्तकारी से मैन्युफैक्चरिंग की दिशा में विकास की पूँजीवादी प्रवृत्ति मौजूद थी और लगातार विकसित हो रही थी, जिसकी ओर ध्यान न देना इरफ़ान हबीब की अवधारणा में असन्तुलन पैदा करता है। जब एक बार यह प्रवृत्ति देश में प्रविष्ट हो चुकी थी तो कालान्तर में उसका विकास और सभी प्राक्-पूँजीवादी संरचनाओं पर उसका वर्चस्व कायम होना ही था। मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की समझ हमें यही बताती है। इस दिशा में जितनी भी बाधाएँ गिनायी जाती हैं वे पूँजीवादी विकास की स्वतन्त्र आन्तरिक गति को विलम्बित एवं किसी हद तक विरूपित तो कर सकती थीं, लेकिन रोक नहीं सकती थीं। यहीं पर यह उल्लेख भी ज़रूरी है कि प्राक्-औपनिवेशिक भारत में औद्योगिक क्रान्ति न होने के कारणों पर चर्चा के दौरान 1968 में आयोजित एक संगोष्ठी में सतीश चन्द्र ने यह प्रस्थापना दी थी कि प्राक्-औपनिवेशिक काल में गुजरात और सम्भवतः कोरोमण्डलीय तथा मलाबार के समुद्रतटवर्ती क्षेत्र वस्तुतः पूँजीवादी विकास की प्रारम्भिक मंज़िल में प्रविष्ट हो चुके थे। तटवर्ती क्षेत्र पर अंग्रेज़ों के अधिकार के चलते आन्तरिक व्यापार का ढाँचा विशृंखलित होने के साथ ही विदेश-व्यापार भी कम होता गया और अन्ततः दस्तकारी उत्पादन ध्वस्त हो गया। इस स्थिति में, अंग्रेज़ उपनिवेशवादियों द्वारा प्रचलित भूमि के मुक्त तथा निर्बाध अलगाव के अधिकार के बल पर, स्थानीय पूँजी भूमि की खरीद की ओर प्रवाहित होने लगी।

पाव्लोव ने इस बात पर ठीक ही आश्चर्य प्रकट किया है कि इरफ़ान हबीब ने किसानों और ग्रामीण आबादी की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली देहाती दस्तकारियों के अन्दर पूँजीवाद की उत्पत्ति की निहित सम्भावनाओं का विश्लेषण नहीं किया है। इनमें “किसी भी क्रिस्म का वास्तविक माल-उत्पादन नहीं हो पाने” के कारण प्रो. हबीब इनमें पूँजीवादी सम्बन्धों के अंकुरण की सम्भावना नहीं देखते। लेनिन ने कृषि और ग्रामीण दस्तकारियों में पूँजीवादी विकास-प्रक्रिया का रूस के सन्दर्भ में विश्लेषण करते हुए पद्धति-विषयक जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये, उनके आधार पर यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि माल (यानी सम्भाव्य पूँजीवादी) उत्पादन की परिधि से न केवल बुनाई, तेल-पेराई और शक्कर-उत्पादन को बल्कि परम्परागत ग्रामीण दस्तकारियों को भी बाहर कर देना सर्वथा ग़लत होगा क्योंकि इन्होंने किसानों के साथ माल-मुद्रा सम्बन्धों में संक्रमण के स्पष्ट लक्षण प्रकट किये थे। इसके अतिरिक्त, खेती तथा किसानों के साथ इस तरह के सम्बन्धों का विकास ही दस्तकारों के लिए प्रादेशिक और राष्ट्रीय पैमाने पर सामाजिक श्रम-विभाजन के आधार पर पूँजीवादी सम्बन्धों के परवर्ती विकास की ठोस ऐतिहासिक सम्भावनाएँ प्रदान कर सकता था। ग्राम समुदायों के भीतर देहाती दस्तकारियों के पार्थक्य के हास ने सामाजिक श्रम विभाजन को तीखा बनाया और दस्तकारी में उत्पादन-सम्बन्धों के नये रूपों को जन्म दिया। ग्राम समुदाय में दस्तकारी की स्थिति ने उसमें नये सम्बन्ध प्रकट नहीं होने दिये। इसलिए, इन तमाम सम्बन्धों को भंग करने के बाद ही दस्तकारियाँ ऐतिहासिक दृष्टि से सक्रिय हो सकती थीं तथा पहले छोटे पैमाने के माल-सम्बन्धों और फिर आरम्भिक पूँजीवादी सम्बन्धों को जन्म दे सकती थीं। उपनिवेश न बनने की स्थिति में समाज-विकास की तार्किक गति से यही होता, ऐसा न मानने का कोई ठोस कारण नहीं है।

अब हम एक बार फिर व्यापारिक और औद्योगिक पूँजीवाद के प्रश्न पर वापस लौटते हैं। यह बिल्कुल सही है कि व्यापारिक पूँजीवाद के विकास को पूँजीवादी विकास और तीव्र वाणिज्यिक गतिविधियों को पूँजीवाद का सूचक नहीं माना जा सकता। यह भी सही है कि ‘पूँजी’ के तीसरे खण्ड में मार्क्स ने भी यह अवधारणा प्रस्तुत की थी कि व्यापारिक पूँजी अपने आप में औद्योगिक पूँजी में नहीं बदल सकती। लेकिन मात्र इतने हवाले से, पूँजीवाद में संक्रमण विषयक मार्क्स के विचारों को नहीं जाना-समझा जा सकता। थोड़ा और गहराई में जाने और व्यापक परिप्रेक्ष्य में सोचने की ज़रूरत है। 1840 और 1850 के दशक में (‘जर्मन विचारधारा’ के काल में) पूँजीवाद में संक्रमण की चर्चा करते हुए मार्क्स ने सामन्ती व्यवस्था पर वाणिज्यिक गतिविधियों, विश्व बाज़ार के विकास और नये फैलते हुए शहरों के क्षरणकारी प्रभावों पर अधिक चर्चा करते हुए इस बात पर बल दिया था कि एक स्वायत्त शहरी दायरे के अन्तर्गत, व्यापारिक पूँजीवाद पूँजीवाद की ओर आगे बढ़ने के लिए प्रारम्भिक संवेग विकसित करता है। ‘पूँजी’ में वे पूँजीवाद में संक्रमण के एक दूसरी प्रक्रिया पर केन्द्रित करते हुए आगे बढ़े जिसमें ‘उत्पादक’ ही व्यापारी और पूँजीपति हो जाता है। मार्क्स ने इस दूसरी प्रक्रिया को ‘वास्तविक रूप में क्रान्तिकारी मार्ग’ की संज्ञा दी। इसके बाद मार्क्स का कारणान्वेषी विश्लेषण उन पूर्वस्थितियों के विश्लेषण की दिशा में आगे बढ़ जाता है जिनके अन्तर्गत कुछ उत्पादक पूँजीपति बन जाते हैं जबकि उनका बहुलांश उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व से पृथक्कृत होकर सम्पत्तिविहीन मज़दूर बन जाता है। लेकिन ‘पूँजी’ में मार्क्स ने पूँजीवाद में संक्रमण के दोनों विकल्पों की (एक क्रान्तिकारी और दूसरा गैर-क्रान्तिकारी) चर्चा की। कहा जा सकता है कि इनमें से पहले का ‘सम्पत्ति-सम्बन्ध परिप्रेक्ष्य’ है जब कि दूसरे का ‘विनिमय-सम्बन्ध परिप्रेक्ष्य’ है। 1970 के दशक में पूँजीवाद में संक्रमण को लेकर पश्चिम में हुई बहस में, पॉल स्वीजी, वालेस्टीन आदि की अवस्थिति दूसरे परिप्रेक्ष्य पर आधारित थी जबकि मॉरिस डॉब, हिल्टन, ब्रेनर आदि की अवस्थिति पहले परिप्रेक्ष्य पर आधारित थी। पेरी एण्डर्सन ने मूलतः ‘सम्पत्ति-सम्बन्ध परिप्रेक्ष्य’ की अवस्थिति अपनायी, लेकिन साथ ही स्वीजी और वालेस्टीन के निकट खड़े होकर उन्होंने नगरों और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की महत्वपूर्ण भूमिका को भी रेखांकित किया। मार्क्स ने ‘पूँजी’ में संक्रमण के दोनों रास्तों की चर्चा की है, हालाँकि यह स्पष्ट नहीं है कि वाणिज्यिक गतिविधि उत्पादों को तो माल में ज़्यादा से ज़्यादा बदलती जाती है, लेकिन स्वयं श्रम-शक्ति इस दौरान किस प्रकार एक माल में तब्दील हो जाती है। इसीलिए कारणात्मक प्राथमिकता तो विनिमय-सम्बन्धों की जगह उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों की ही बनती है। तब फिर पूँजीवाद में विकास के दूसरे रास्ते की मार्क्स चर्चा ही क्यों करते हैं। हम सोच सकते हैं कि मुख्यतः तो उत्पादन के सामाजिक-सम्बन्ध ही विनिमय-सम्बन्धों को तय करते हैं, लेकिन ऐसा भी सम्भव है कि पूँजीवादी विनिमय-सम्बन्ध (यानी व्यापारिक पूँजीवाद) कुछ समय तक तो उत्पादन के प्राक्-पूँजीवादी सामाजिक सम्बन्धों को अक्षुण्ण बनाये रखे, लेकिन लम्बी अवधि में वह उत्पादन-सम्बन्धों को भी प्रभावित करे। जैसे कि कार्यशालाओं के मालिक व्यापारियों का उद्योगपति चरित्र प्रधान बन जाये, या सामाजिक वर्ग-संघर्ष का कोई रूप व्यापारियों को कार्यशालाओं के स्वामित्व से वंचित कर दे, या माल-अर्थव्यवस्था के प्रभाव से पैदा हुई संस्कृति उद्यमिता की प्रवृत्ति को बढ़ावा दे और व्यापारियों के कारखानों के समान्तर या उनके अधीन घरेलू स्तर पर काम करने वाले कारीगरों की व्यवस्था के समान्तर कुछ उस्ताद कारीगरों की कार्यशालाएँ अस्तित्व में आने लगे जो नयी तकनीक ईज़ाद करने के बूते पर बाज़ार पर अपना वर्चस्व कायम कर लें। इन सम्भावनाओं के साथ, यदि हम राजनीतिक अधिरचना को भी जोड़ लें तो व्यापारिक पूँजीवाद, उदीयमान औद्योगिक पूँजीवाद, सामन्त वर्ग और केन्द्रीभूत राजशाही के टकरावों के बीच पूँजीवादी विकास के विविध रूपों

और रास्तों की सम्भावनाएँ हमारे सामने उपस्थित हो सकती हैं। बहरहाल, हम कहना यह चाहते हैं कि स्वयं मार्क्स ने पूँजीवादी विकास के एक अन्य मार्ग की भी चर्चा की है, जिसमें कम से कम शुरुआत में, व्यापारिक पूँजी या पूँजीवादी विनिमय-सम्बन्धों की बुनियादी कारक-प्रेरक की भूमिका हो सकती है। भारत में यदि कार्यशालाओं में श्रम-विभाजन का तथ्य एकदम अनुपस्थित भी होता, तो भी वैदेशिक एवं आन्तरिक व्यापार तथा शहरों और माल अर्थव्यवस्था का व्यापक विकास कालान्तर में पूँजीवादी विकास की पूर्वशर्तें उत्पन्न कर सकते थे। वाणिज्यिक पूँजीवाद द्वारा सामन्ती या प्राक्-पूँजीवादी सम्बन्धों को अक्षुण्ण बनाये रखने या संरक्षित करने की स्थिति स्थायी कृतई नहीं थी। इस स्थिति के भी अपने अन्तर्निहित अन्तरविरोध थे जिन्हें आगे विकसित होना ही था।

पूँजीवादी विकास की अन्य जितनी भी बाधाओं की इरफ़ान हबीब या अन्य इतिहासकार चर्चा करते हैं, वे सभी सिद्धान्ततः अलंघ्य कदापि नहीं हैं। उनकी चर्चा से सर्वोपरि तौर पर यह निष्कर्ष निकलता है कि उपनिवेश न बनने की स्थिति में भी, भारत में पूँजीवादी विकास का रास्ता पश्चिमी यूरोप से भिन्न होता। लेकिन ऐसा तो, उदाहरण के तौर पर रूस के “अर्द्धएशियाई” समाज के साथ भी हुआ। भारत में किसान-विद्रोहों और कृषि-संकट के परिणामस्वरूप जब मुग़ल साम्राज्य का पतन हुआ तो ज़मींदारों ने सामान्य रूप से किसानों पर अपने अधिकारों का विस्तार किया। इरफ़ान हबीब ने इंगित किया है कि यह स्थिति यूरोप में सामन्तवाद के पतन से उत्पन्न उस स्थिति से ठीक विपरीत थी – जिसके तहत राष्ट्र-राज्यों का उदय हुआ, वाणिज्य का विस्तार हुआ और लघु उत्पादन का सार्वत्रीकरण हुआ – जिससे पूँजीवाद का जन्म हुआ। बिल्कुल ठीक, लेकिन हम सिर्फ़ यह कहना चाहते हैं कि पूँजीवादी विकास की यही प्रक्रिया पूर्वी यूरोप के देशों और रूस में नहीं रही। मुग़ल साम्राज्य के विघटन के बाद विभिन्न क्षेत्रीय शक्तियों के शासनान्तर्गत पूँजीवादी संक्रमण की स्थितियाँ किसी रूप में उत्पन्न ही नहीं हो सकती थीं, ऐसा मानने का कोई सैद्धान्तिक आधार नहीं है। यूरोप और यहाँ तक कि चीन के मुकाबले भी, जहाँ तक प्राक्-औपनिवेशिक भारत की तकनीक के पिछड़े होने की बात है, उपनिवेश न बनने की स्थिति में, व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा आगे चलकर इस कमी को दूर करने वाली प्रेरक शक्ति बन सकती थी। यह जब जाकर सम्भव होता जब सस्ती श्रम शक्ति की उपलब्धता के बूते प्रतिस्पर्द्धा में टिके रह पाना सम्भव नहीं रह जाता। यह बात तो इरफ़ान हबीब भी स्वीकार करते हैं कि जाति-व्यवस्था या अन्य कोई भी उपादान कारीगरों द्वारा नयी तकनीक अपनाने की राह में अलंघ्य बाधा नहीं था। इरफ़ान हबीब का यह कहना भी सही है कि मुग़ल शासन के अन्तिम दौर में जब कृषि तन्त्र में संकट उत्पन्न हुआ तो उसने समूची अर्थव्यवस्था को अपने चपेट में ले लिया और चूँकि पूँजी केवल वाणिज्य तक सीमित थी, उसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था, इसलिए मुग़ल साम्राज्य के पतन के बाद 18वीं शताब्दी में उसके पास से वह विशाल बाज़ार छिन गया जो मुग़ल साम्राज्यकाल में उसके पास था। बिल्कुल ठीक, लेकिन हमारा कहना यह है कि यदि उत्पादक शक्तियों के विकास की श्रेष्ठता के अतिरिक्त छल-बल की कूटनीति और भयंकर रक्तपात के ज़रिये भारत को ब्रिटिश उपनिवेश नहीं बनाया जाता तो यहाँ वाणिज्यिक पूँजीवाद के वैभव के दौर के उपरोक्त अवसान के बाद स्वतन्त्र पूँजीवादी विकास की सम्भावना और अधिक मौजूद थी। यदि उत्पादक शक्तियों की श्रेष्ठता के तर्क को यान्त्रिक व अर्थवादी ढंग से लागू करते हुए कोई भारत के ब्रिटेन के हाथों उपनिवेशीकरण को अनिवार्य बताये, तो हम कहेंगे कि यही तर्क रूस और उन देशों के ऊपर क्यों नहीं लागू होता जो सापेक्षिक पिछड़ेपन के बावजूद उपनिवेश नहीं बन सके। साथ ही, हम यह भी याद दिलायेंगे कि 18वीं शताब्दी में तकनीकी पिछड़ेपन के बावजूद, भारत प्रगति की सम्भावनाओं से युक्त था। भारत पर ब्रिटेन की उत्पादक शक्तियों की निर्णायक श्रेष्ठता औद्योगिक क्रान्ति के बाद ही कायम हुई जिसके पीछे औपनिवेशिक लूट और भारत की व्यवस्थित तबाही की अहम भूमिका थी। तीसरी बात, भारतीय तकनीक हर मायने में पिछड़ी नहीं थी, आज इसके पक्ष में तमाम तथ्य मौजूद हैं, लेकिन इनकी चर्चा यहाँ सम्भव नहीं है।

प्राक्-औपनिवेशिक भारत में पूँजीवादी विकास की सम्भावनाओं पर दिमाग़ खोलकर सोचने के लिए, हम अकादमिक मार्क्सवादियों को सिर्फ़ याद दिलाना चाहते हैं कि उन्हें रूस में ज़ारशाही के अन्तर्गत उद्योगों के विकास तथा 1860 के भूमि सुधारों से लेकर स्तालिनपिन के सुधारों तक के लम्बे दौर में एक क्रमिक प्रक्रिया में, ग़ैर-क्रान्तिकारी ढंग से कृषि में हुए पूँजीवादी विकास पर ग़ौर करना चाहिए। रूस साम्राज्यवादी दबाव झेलने के बावजूद कभी उपनिवेश नहीं बना और वहाँ पूँजीवाद का विकास पश्चिमी यूरोप से भिन्न ढंग से हुआ। इसके पूर्व जर्मनी में भी कृषि में पूँजीवाद का विकास ग़ैर-क्रान्तिकारी ढंग से हुआ था जिसे मार्क्स और लेनिन ने ‘प्रशियाई मार्ग’ और ‘जुंकर टाइप रूपान्तरण’ का नाम दिया था। जर्मनी और रूस में सामन्ती भूस्वामियों ने ही खुद को पूँजीवादी भूस्वामी बना लिया था और साथ ही ज़मीन का मालिक बने बड़े किसानों के बीच से भी कुलक पैदा हुए थे। राजनीतिक स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत में भी एक अलग ढंग से कृषि में पूँजीवादी विकास का यही ग़ैर-क्रान्तिकारी रूप अमल में आया, लेकिन यह एक अलग प्रसंग है।

मूल बात यह है कि प्राक्-पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक संरचना का रूप चाहे जो भी हो, एक बार समाज में जब माल-अर्थव्यवस्था पैदा हो जाती है, तो वह उसे तोड़ डालने या अपने अधीनस्थ कर लेने के काम को देर-सबेर अवश्य ही पूरा



कर लेगी। मार्क्स ने 'पूँजी' के तीसरे खण्ड में इस बात को स्पष्ट कर दिया था कि पूँजी का सर्वाधिक विविध प्रकार मध्ययुगीन और पितृसत्तात्मक भू-सम्पत्ति – भूस्वामित्व के सामन्ती “किसान अलॉटमेण्ट” (यानी बँधुआ मज़दूरों की जोत), गोत्रात्मक, सामुदायिक, राजकीय एवं अनेक दूसरे रूपों से सामना होता है और वह अनेक रास्तों और अनेक तरीकों का इस्तेमाल करके इन पर अपना नियन्त्रण स्थापित करती है। रूस में पूँजीवादी विकास का अध्ययन करते हुए लेनिन ने एकाधिक स्थानों पर यह स्पष्ट किया है कि कृषि में पूँजीवादी विकास के लिए भूमि काश्तकारी के किसी खास रूप का होना अथवा मुक्त मज़दूर का मौजूद होना कतई ज़रूरी नहीं है।

हाँ, इस सच्चाई को ज़रूर स्वीकार किया जाना चाहिए कि भारत में जिस समय उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई, उस समय तक यहाँ दस्तकारी से मैनुफ़ैक्चरिंग तक की विकास-यात्रा अभी बहुत आगे नहीं बढ़ी थी (हालाँकि इसकी शुरुआत हो चुकी थी)। यहाँ औद्योगिक क्रान्ति जैसी कोई चीज़ नहीं हुई थी। यहाँ क्रान्तिकारी ढंग से पूँजीवादी संक्रमण होने के रास्ते में तमाम बाधाएँ भी थीं, लेकिन उपरोक्त चर्चा के निष्कर्ष के तौर पर हमारा यह मानना है कि उपनिवेश न बनने की स्थिति में भारत में अपनी स्वाभाविक प्रक्रिया में निरन्तर विकसित होती उत्पादक शक्तियाँ अन्ततोगत्वा प्राक्-पूँजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों को तोड़ डालतीं और पूँजी भारतीय जीवन और समाज के पोर-पोर में घुस जाती। पुराने समाज की कोख में पूँजीवाद का शिशु पलता-बढ़ता रहता। मध्ययुगीन समाज का मूलाधार क्रमशः कमज़ोर पड़ता जाता। प्राक्-पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक संरचना के परमाणु का नाभिक निरन्तर प्रहारों से विखण्डित हो जाता और ऊर्जा का अजस्र प्रवाह फूट पड़ता। मूलाधार और अधिरचना की निर्णायक टक्कर होती और सामन्ती अधिरचना के बिखरने के साथ ही नये मूल्यों और संस्कृति से पूरा समाज आप्लावित हो जाता। निश्चय ही इस परिवर्तन की अपनी विशिष्टताएँ होतीं, गतियों-रूपों-समस्याओं की अपनी विविधताएँ होतीं, लेकिन विश्व इतिहास के पूँजीवादी युग में परिवर्तन की एकमात्र यही दिशा हो सकती थी। इस स्थिति में, भारत में भी अपनी ज़मीन पर अपनी आन्तरिक गति से पूँजीवाद अपनी भौतिक-आत्मिक समग्रता, शक्ति और संवेग के साथ उद्भूत होता, लेकिन उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया ने इस आन्तरिक गति की ही भ्रूण-हत्या कर डाली। यह एक ऐसी त्रासदी थी, जिसने भारतीय इतिहास पर जो सांघातिक प्रभाव डाला, वह आज तक भारतीय जीवन को प्रभावित कर रहा है और आगे भी लम्बे समय तक करता रहेगा। उपनिवेशीकरण की इस प्रक्रिया को समझने के बाद ही 1857 के ऐतिहासिक महत्त्व को सही परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। लेकिन इसके पहले भक्ति आन्दोलन के बारे में संक्षेप में कुछ बातें।

मध्यकालीन भारत के विशेषज्ञ मार्क्सवादी इतिहासकार और साहित्येतिहास के मार्क्सवादी अध्येता भक्ति आन्दोलन, और विशेष तौर पर निर्गुण भक्ति आन्दोलन (या लोकवादी एकेश्वरवादी आन्दोलन), का विस्तृत अध्ययन विविध पक्षों से प्रस्तुत करते हैं तथा उसके उद्भव एवं पराभव की सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों की तो विस्तृत चर्चा करते हैं, लेकिन वे इस आन्दोलन के सामाजिक वर्गीय आधार की या तो चर्चा ही नहीं करते या फिर इस बारे में निहायत गोलमोल ढंग से बातें करते हैं। इरफ़ान हबीब सिखों और सतनामियों के किसान संघर्षों के लोकवादी एकेश्वरवादी धार्मिक आन्दोलन से “जुड़” जाने की चर्चा तो करते हैं, लेकिन यह नहीं स्पष्ट करते कि यह धार्मिक आन्दोलन स्वयं (वस्तुतः यह धार्मिक से ज़्यादा एक सामाजिक आन्दोलन था) किन सामाजिक वर्गों के हितों-आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करता था और इसका सामाजिक आधार किन वर्गों के बीच था। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि ऐतिहासिक घटनाओं-परिघटनाओं की हर पारस्परिक तुलना लँगड़ी होती है, और विशेष तौर पर मध्यकालीन यूरोप से मध्यकालीन भारतीय समाज की सभी भिन्नताओं तथा तत्कालीन भारतीय स्थितियों की सभी विशिष्टताओं को ध्यान में रखते हुए, हम कहना चाहते हैं कि लोकवादी एकेश्वरवादी आन्दोलन उन्हीं वर्ग-शक्तियों के हितों-आकांक्षाओं-आवश्यकताओं को अभिव्यक्त कर रहा था जिनके हितों-आकांक्षाओं-आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व यूरोप की परिस्थितियों में धर्म-सुधार आन्दोलन कर रहा था। लोकवादी एकेश्वरवादी आन्दोलन के नेता तत्कालीन समाज में एक छोटे से अभिजन समुदाय में तब्दील हो चुके सत्ताश्रित या जाति व्यवस्था के अन्तर्गत विशेषाधिकार-प्राप्त बुद्धिजीवी वर्ग के सदस्य नहीं थे। वे कठिन श्रम से जीविका अर्जित करने वाले और जनता के बीच सक्रिय रहने वाले लोग थे। वे छीपी, चमार, जुलाहा, धुनिया, नाई जैसी किसी टहलुआ श्रेणी की निम्न जाति या किसानों की किसी जाति में पैदा हुए लोग थे। वर्ग की दृष्टि से वे या तो दस्तकार थे या किसान या छोटे व्यापारी। जाति-व्यवस्था और वर्णाश्रम धर्म के शास्त्रसम्मत आडम्बर तत्कालीन शासक-शोषण वर्ग के सर्वाधिक प्रभावी सांस्कृतिक अधिरचनात्मक अस्त्र थे। एकेश्वरवादी भक्ति आन्दोलन की धारा ने सर्वोपरि तौर पर इन्हीं पर चोट की। उन्होंने वेदों, स्मृतियों, उपनिषदों के प्राधिकार और तमाम स्थापित धार्मिक विधि-विधानों को अपने प्रहार का निशाना बनाया। निश्चय ही जाति व्यवस्था एक हद तक दस्तकारों की क्षैतिज गतिशीलता को बाधित करने के साथ ही किसान आबादी की वर्गीय एकजुटता और वर्ग चेतना के विकास को भी बाधित कर रही थी। इसलिए स्वाभाविक था कि किसानों-दस्तकारों के विचारधारात्मक प्रतिनिधि के रूप में निर्गुण भक्ति आन्दोलन के नेताओं ने सबसे पहले इन्हें ही अपने प्रहार का निशाना बनाया। यूरोप के धर्मसुधार आन्दोलन में उग्रपरिवर्तनवादी (जैसे थामस मुंजर और काल्वे की धारा) और उदारवादी धाराएँ (जैसे लूथर की धारा) साथ-साथ मौजूद थीं, साथ ही ‘रिफॉर्मेशन’ की धारा के जवाब में वहाँ ‘काउण्टर

रिफॉर्मेशन' की धारा भी मौजूद थी। ठीक इसी तरह रैडिकल और सुधारवादी धाराएँ लोकवादी एकेश्वरवादी आन्दोलन में और इनके जवाब में पुनर्स्थापनावादी धाराएँ हमें पूरे भक्ति आन्दोलन में भी देखने को मिलती हैं। यह सही है कि केन्द्रीभूत सत्ता के विरुद्ध मराठा किसानों के जिस विद्रोह का नेतृत्व शिवाजी ने किया, उसके परिणामस्वरूप कायम मराठा राज्य किसी भी रूप में "किसान राज्य" नहीं था। इसने वहाँ मराठा ज़मींदारों की सत्ता को जन्म दिया, महाराष्ट्र में मीरास पट्टेदारियों का पर्याप्त विस्तार हुआ और कुनबियों की स्थिति प्रायः वही बनी रही। जाट किसानों का विद्रोह सिख धर्म के गुरुओं की शिक्षाओं से पैदा हुआ था और जाति-निषेध, समानता एवं जनवादी मूल्यों के मामले में सिख धर्म का चरित्र सर्वाधिक रैडिकल और प्रभावी था लेकिन इनके परिणामस्वरूप कायम 'सिख राज्य' भी किसी किस्म का 'किसान राज्य' नहीं था। इस तथ्य की ओर इरफ़ान हबीब ने ठीक इंगित किया है, लेकिन ग़ौर करने की बात यह है कि यही परिणति और यही विसंगति हमें कमोबेश यूरोपीय धर्मसुधार आन्दोलन में भी देखने को मिलती है। इसमें भी ईसाई प्लेबियनों के शिविर के साथ-साथ बर्गों और अभिजातों के शिविर मौजूद थे। मार्टिन लूथर ने एक ओर तो आरम्भिक बुर्जुआ विश्वदृष्टिकोण को प्रकट किया पर दूसरी ओर इसने आरम्भिक बुर्जुआ मानवतावाद और मुक्त व्यापार के सिद्धान्त की आलोचना की तथा 1525 के महान किसान युद्ध में सत्ताधारी वर्गों का पक्ष लिया। दूसरी ओर मुंजर था जो धर्मसुधार आन्दोलन के आमूलगामी किसान-प्लेबियन पक्ष का प्रतिनिधि और महान किसान युद्ध का नेता था जिसका राजनीतिक कार्यक्रम समतावादी यूटोपियाई कम्युनिज़्म के काफ़ी निकट था। फ़्रांस में काल्वे की धारा सर्वाधिक आमूल परिवर्तनवादी बुर्जुआ वर्ग की माँगों को प्रकट करती थी। हमें यह भी याद रखना होगा कि बाद के दौर में जर्मनी में धर्मसुधार आन्दोलन का इस्तेमाल कई रियासतों के राजकुमारों तथा इंग्लैण्ड और स्कैण्डेनेविया में सामन्त वर्ग ने किया। फ़्रांस में भी राजा की निरंकुश सत्ता के विरुद्ध सामन्ती कुलीनों ने इसका इस्तेमाल किया। तात्पर्य यह कि यूरोप के धर्मसुधार आन्दोलन और भारत के लोकवादी एकेश्वरवादी आन्दोलन – दोनों की ही सामाजिक अन्तर्वस्तु और संरचना जटिल थी। धर्मसुधार आन्दोलन कोई बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति नहीं थी, वह सामन्तवाद के विरुद्ध किसानों, आम ग़रीबों और नवजात बुर्जुआ वर्ग के प्रतिकार की प्रारम्भिक अभिव्यक्ति थी। भारत में भी निर्गुण भक्ति आन्दोलन में दस्तकारों, किसानों और गाँवों-शहरों की सर्वाधिक तिरस्कृत-उत्पीड़ित मेहनतकश आबादी की धाराएँ उपस्थित थीं। अलग-अलग क्षेत्रों और अलग-अलग धाराओं में अलग-अलग पक्षों की प्रमुखता के हिसाब से इस आन्दोलन का आमूल परिवर्तनवादी अथवा सुधारवादी चरित्र सामने आता रहा। जैसे सिख धर्म के झण्डे तले पंजाब के जाट किसानों की एकजुटता और सतनामियों के विद्रोह में हम मुंजर की धारा की समतुल्यता देख सकते हैं। यूरोप में मध्य सोलहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के दौरान 'काउण्टर रिफॉर्मेशन' की जवाबी धारा प्रभावी रही जिसने यूरोप में प्रोटेस्टेण्ट धर्म के प्रसार को रोक दिया तथा फ़्रांस और पोलैण्ड में तो उसे मिटा ही दिया। भारत में सत्रहवीं शताब्दी में सुधरी हुई जाति व्यवस्था के रख-रखाव की कोशिशों, ब्राह्मणों की सर्वोच्चता (शूद्रों द्वारा धर्मोपदेश की निन्दा) और मूर्ति पूजा के समर्थन में प्रस्तुत तर्कों के साथ तथा मुग़ल साम्राज्य के साथ अधिक व्यापक सहयोग का आधार बनाने वाले के रूप में तुलसी हमें काफ़ी हद तक वैसी ही एक उदारवादी प्रतिगामी धारा के प्रतिनिधि जैसे दीखते हैं, जैसी यूरोप में 'काउण्टर रिफॉर्मेशन' की धारा दीखती है। यहाँ फिर यह स्पष्ट कर दें कि हमारा उद्देश्य निर्गुण भक्ति आन्दोलन में हू-ब-हू यूरोपीय धर्म सुधार आन्दोलन का प्रतिरूप ढूँढ़ना नहीं है। लाज़िमी तौर पर दोनों में बहुत सारी भिन्नताएँ हैं, क्योंकि मध्ययुगीन यूरोप और मध्ययुगीन भारत की सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं में ही काफ़ी भिन्नताएँ थीं। हम सिर्फ़ यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि प्राक्-औपनिवेशिक भारत में वर्ग-संघर्ष की एक अपनी स्वतन्त्र आन्तरिक गतिकी मौजूद थी, जिसमें (उपनिवेश न बनने की स्थिति में पूँजीवादी विकास की सम्भावनाओं की पहचान की जा सकती है। भाषा, साहित्य और संस्कृति के विकास की दृष्टि से भी राष्ट्रीयताओं के विकास के बीज तत्त्व भी भक्ति आन्दोलन में ढूँढ़े जा सकते हैं, लेकिन यह एक अलग चर्चा का विषय है।

मुमकिन है कि उपनिवेश न बनने की स्थिति में अठारहवीं शताब्दी के गतिरोध के भीतर से मानववाद के मूल्यों के उद्घोषक किसी सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन का जन्म होता। या फिर आगे चलकर मानववाद, राष्ट्रवाद और जनवाद के मूल्य रूस की तरह बुर्जुआ वर्ग के विकास के साथ-साथ पुश्किन, गोगोल, लर्मन्तोव, तुर्गनेव, तोल्स्तोय के यथार्थवादी सृजनकर्म तथा बेलिन्स्की, हर्ज़न, चेर्निशेव्स्की, दोब्रोल्बोव जैसे क्रान्तिकारी जनवादियों के विचारों के माध्यम से अभिव्यक्त होते। यह तो मात्र अनुमान की बात है। इतना तय है कि अपनी स्वतन्त्र आन्तरिक गति से विकसित भारतीय समाज का इतिहास कुछ और ही होता।



आज इस तथ्य पर कोई भी प्रश्न नहीं उठा सकता कि दो सौ वर्षों की औपनिवेशिक गुलामी के दौरान, (पूँजीवादी व्यापार, भू-राजस्व वसूली उद्योगों में श्रम शक्ति के दोहन और फिर वित्तीय पूँजी की जकड़बन्दी के "मान्य" विधि-विधानों के अतिरिक्त राजे-रजवाड़े-व्यापारियों के साथ धोखाधड़ी, छल-कपट और अँधेरगर्दी भरी लूटपाट के ज़रिये भी) ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने

भारत को किस तरह से लूटा, निचोड़ा और तबाह किया। श्रम शक्ति और कृषि-उत्पादों की लूट के प्रभाव को तो कालान्तर में समाप्त किया जा सकता है, जनता की अकूत सर्जनात्मकता के बूते पर दौर-विशेष में आर्थिक रूप से पिछड़ गये देश को भी कालान्तर में आगे बढ़ाया जा सकता है, लेकिन लकड़ी और अन्य कच्चे माल के लिए (पूरे यूरोप के पुराने महलों-बंगलों में आज भी भारतीय उपमहाद्वीप से गयी लकड़ी से बने फर्नीचर आदि सामान भरे पड़े हैं) बर्मा से लेकर हिमालय की पर्वतशृंखला के अछूते वनों को तबाह करके जो पारिस्थितिक तबाही पैदा की गयी, उसका परिणाम आज भी देश भुगत रहा है और आगे भी भुगतेंगा (अब यह एक अलग प्रसंग है कि प्रकृति की तबाही के इस सिलसिले को भारतीय पूँजीवाद ने भी आगे ही बढ़ाया है)। औपनिवेशिक लूट एवं तबाही के इस पहलू पर अभी भी काफी कम शोध हुआ है। मोटे तौर पर भारत की प्राकृतिक एवं सामाजिक सम्पदा की अकूत औपनिवेशिक लूट से अवगत व्यक्ति के सामने भी यदि एक साथ इसके परिमाण-विषयक तथ्य और आँकड़े रख दिये जायें तो वह आश्चर्यचकित रह जायेगा। इन औपनिवेशिक नीतियों के परिणामस्वरूप संसाधन-निर्गम एवं 'सम्पदा-बहिर्गमन' के अतिरिक्त अनवरत दुर्भिक्षों, तथा विशेषकर अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और समूची उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान विऔद्योगीकरण (डीइण्डस्ट्रियलाइज़ेशन) और विनगरीकरण (डीअर्बनाइज़ेशन) का जो सिलसिला जारी रहा, उससे इतिहास के सभी सजग अध्येता परिचित हैं। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी उल्लेखनीय है कि 1872-81 के बीच भारतीय पुरुषों की जीवन-प्रत्याशा 23.76 वर्ष थी जो 1911-12 के बीच आश्चर्यजनक गिरावट के साथ 19.40 वर्ष के निम्न स्तर तक जा पहुँची थी।

लेकिन उपनिवेशीकरण के अभिशाप की भयावहता मात्र इतनी ही नहीं थी। आर्थिक लूट और तबाही की तुलना में अतुलनीय रूप से अधिक ऐतिहासिक विनाशकारी बात यह थी कि उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया ने प्राक्-औपनिवेशिक भारतीय समाज की नैसर्गिक आन्तरिक गति की निरन्तरता को नष्ट कर दिया। उसने भारत को उसके अतीत से काट दिया और स्वस्थ भविष्य के नैसर्गिक विकास की सम्भावनाओं को कुचल दिया। प्राक्-औपनिवेशिक भारत की सामाजिक-आर्थिक संरचना को व्यवस्थित ढंग से नष्ट करके उस पर एक विशिष्ट औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना आरोपित कर दी गयी। आगे चलकर इसी औपनिवेशिक सामाजिक आर्थिक संरचना के भीतर से पैदा हुए वर्ग-अन्तरविरोधों ने साम्राज्यवाद-सामन्तवाद विरोधी संघर्षों को जन्म दिया। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की अन्तर्भूत कमजोरियों और इसके बुर्जुआ नेतृत्व के दोहरे चरित्र एवं मरियलपन को समझने की कुंजीभूत कड़ी इसी प्रक्रिया में ढूँढ़ी जा सकती है। औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना ने न केवल एक बौने विकलांग शिशु के रूप में पूँजीवाद को जन्म दिया, बल्कि इसी संरचना से उद्भूत होने के चलते ऐतिहासिक जड़ों से विच्छिन्न भारतीय बुद्धिजीवी भी बौद्धिक-वैचारिक उथलेपन एवं दिमागी गुलामी के शिकार थे और इस स्थिति ने भारतीय सर्वहारा आन्दोलन को भी प्रत्यक्षतः-परोक्षतः प्रभावित किया। इस औपनिवेशिक विरासत के जन्मचिह्न आज भी भारत के बौद्धिक जगत में और यहाँ तक कि जनसंघर्षों के क्रान्तिकारी नेतृत्व में भी विचारधारात्मक कमजोरी और स्वतन्त्र चिन्तन की कमी के रूप में ढूँढ़े जा सकते हैं। उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया के परिणाम आज तक भारतीय जीवन को प्रभावित कर रहे हैं और भविष्य इतिहास के रंगमंच पर इतिहास के सर्वाधिक क्रान्तिकारी वर्ग – सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में होने वाली नयी क्रान्ति का कोई सर्वसमावेशी तूफान ही इस ऐतिहासिक अवरोध को रास्ते से हटा सकता है। जिस बुर्जुआ वर्ग ने राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के ऐतिहासिक दौर में इस काम को अंजाम नहीं दिया और जो 'समझौता-दबाव-समझौता' की नीति पर खिसकता हुआ राजनीतिक स्वतन्त्रता की मंज़िल तक पहुँचा, वह भूमण्डलीकरण के इस दौर में न तो साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद कर सकता है, न ही उसके द्वारा सांस्कृतिक-वैचारिक-वैधिक अधिरचनात्मक धरातल पर आत्मिक मूल्यों के स्तर पर, औपनिवेशिक अतीत की प्रेत-बाधा से ही मुक्ति सम्भव है। इस बात को भली-भाँति समझ लेने के बाद ही 1857 के महान जनसंघर्ष के ऐतिहासिक महत्त्व को समझा जा सकता है और तब शायद महिमामण्डित करने के लिए इसे किसी किसिम के नवजागरण-पुनर्जागरण का प्रस्थान बिन्दु घोषित करने या ऐसा ही कोई अन्य द्रविड़ प्राणायाम करने की आवश्यकता नहीं रह जायेगी।

यहाँ उपनिवेशीकरण पर सामान्य और विशिष्ट सन्दर्भों में थोड़ी और चर्चा ज़रूरी है। प्राचीन और मध्यकाल में पूरी दुनिया में इस या उस देश के आक्रान्ता विभिन्न देशों पर अधिकार करते रहे, साम्राज्य बनते-बिगड़ते रहे और नये-नये देश भी बनते रहे। ये आक्रान्ता आते थे और फिर अपने सैनिकों-अधिकारियों-कर्मचारियों सहित विजित देशों में ही बस जाते थे और धीरे-धीरे वहाँ के जीवन और संस्कृति के साथ आदान-प्रदान करके एकरूप हो जाते थे। ऐसा भी होता था कि कुछ लुटेरे आते थे और लूटपाट के बाद वापस लौट जाते थे। उपनिवेशीकरण इससे एक सर्वथा भिन्न परिघटना थी। मध्ययुग के अवसान और आधुनिक युग की प्रातःबेला में व्यापारी पूँजीवादी ने व्यापार से आगे बढ़कर इसकी शुरुआत की कि वह देशों पर क़ब्ज़ा जमाकर वहाँ एक नये किसिम की शासन-व्यवस्था कायम करता था और विविध रूपों में (जहाँ जैसा सम्भव हो) विजित देशों की प्राकृतिक एवं सामाजिक सम्पदा को लूटकर अपने देश भेजता रहता था। इस लूट को व्यवस्थित करने के लिए उपनिवेशों में बाकायदा एक सामाजिक-आर्थिक ढाँचा खड़ा किया जाता था और शासन-विधान तैयार किया जाता था। आमतौर पर पूरे यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति को गति देने में उपनिवेशों की लूट की अहम भूमिका रही। "मुक्त प्रतियोगिता" के युग में औद्योगिक पूँजीपति

वर्ग ने भी उपनिवेशों की व्यवस्था को अपने वर्गहित के अनुरूप जारी रखा और साम्राज्यवाद के युग में, वित्तीय पूँजी के निर्यात की प्रवृत्ति की प्रमुखता कायम होने के बाद भी तब तक, उपनिवेशवाद राष्ट्रों के साम्राज्यवादी शोषण की प्रमुख वैश्विक प्रणाली बना रहा जब तक उपनिवेशों में उठ खड़े हुए जनसंघर्षों के ज्वार ने साम्राज्यवादियों को एक कदम पीछे हटकर साम्राज्यवादी शोषण की नयी विश्व-व्यवस्था खड़ी करने के लिए बाध्य नहीं कर दिया। उपनिवेशवाद की समाप्ति का एक सहायक कारण स्वयं विश्व पूँजीवाद की संरचना में और उसके विकास के साथ ही अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा के विश्वयुद्ध के रूप में भड़क उठने तथा दोनों विश्वयुद्धों में पुरानी औपनिवेशिक ताकतों के शक्तिहास के साथ ही नयी सर्वोच्च साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में अमेरिका के उभार में भी निहित था। पर यह एक अलग प्रसंग है।

उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया सभी जगह प्रकृति एवं परिणाम की दृष्टि से एकसमान नहीं थी। जैसे, स्पेनी उपनिवेशवादियों ने दक्षिण अमेरिकी देशों को उपनिवेश बनाने की प्रक्रिया में वहाँ की मूल आबादी के बहुलांश को बर्बर नरसंहार करके समाप्त कर दिया। वहाँ की खनिज एवं वन्य सम्पदा के दोहन और फार्मों में काम करने के लिए बड़े पैमाने पर अफ्रीका से अश्वेत दास बनाकर ले जाये गये। यूरोप से समृद्ध और आम लोग भी वहाँ जाकर बसे और वहाँ सभी कालान्तर में घुल-मिल गये। दक्षिण अमेरिका प्राचीन काल में विकसित सभ्यताओं की जन्मस्थली रही थी, पर विशिष्ट कारणों से मध्यकाल तक यह भूभाग विकास की दौड़ में काफ़ी पीछे छूट गया था। वहाँ की जनता की पूरी संरचना ही नयी थी जो औपनिवेशिक दौर में निर्मित हुई थी। इन देशों की आत्मिक-सांस्कृतिक समृद्धि का अतीत काफ़ी पीछे छूट चुका था, अतः उस अतीत से विच्छिन्नता की प्रक्रिया ने वहाँ उतनी भीषण त्रासदी को जन्म नहीं दिया, जैसी कि भारत में। अश्वेत अफ्रीका भी यूरोपीय देशों का उपनिवेश बना। यहाँ भी प्राकृतिक सम्पदा की लूट हुई और बर्बरतापूर्वक गुलाम बनाकर अश्वेतों को उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका ले जाया गया। लेकिन इन देशों में सामाजिक सम्पदा, वर्गीय सामाजिक संरचना और संस्कृति के विकास का इतिहास प्राक्-औपनिवेशिक काल में लगभग अनुपस्थित था, इसलिए अतीत से विच्छिन्नता की त्रासदी वहाँ भी नहीं थी। यूरोपीय उपनिवेशवादी जब उत्तरी अमेरिका और आस्ट्रेलिया पहुँचे तो वहाँ उन्हें विशाल भूखण्ड और प्रचुर प्राकृतिक सम्पदा तो मिली, लेकिन वहाँ के अत्यन्त अविकसित समाजों में सामाजिक सम्पदा-सम्पन्न ऐसी आबादी थी ही नहीं जिनका शोषण किया जाता। आत्मसमर्पण से इन्कार करने वाली मूल आबादी को वहाँ लगभग समाप्त कर दिया गया और यूरोपीय विस्थापितों से वहाँ एक नया समाज बसा जो जन्म से ही पूँजीवादी समाज था। एशिया, लातिन अमेरिका और अफ्रीका की लूट से संचित धन से यूरोप ने इन देशों में प्रारम्भिक पूँजीवादी विकास के लिए आदिम पूँजी दी और खेतों-खदानों में तथा पूँजीवादी आधारभूत एवं अवरचनागत ढाँचा खड़ा करने में अफ्रीका से ले जाये गये गुलामों के श्रम का इस्तेमाल किया गया। बाद में वहाँ के विस्थापितों के अपने साझा हितों के आधार पर उनकी राष्ट्रीय चेतना का जन्म हुआ तथा एक राष्ट्र के रूप में संगठित होकर यूरोप के औपनिवेशिक प्रभुत्व से मुक्त होने के बाद ये स्वतन्त्र पूँजीवादी देश बन गये। बहुतेरे देश ऐसे भी थे, जिनकी राजनीतिक आज़ादी बस नाममात्र की ही थी और उनकी आर्थिक लूट भी बेशुमार हुई, लेकिन पूर्ण उपनिवेशीकरण न होने के कारण उनकी समाज विकास की अपनी स्वतन्त्र आन्तरिक गति तमाम विरूपणों-बाधाओं के बावजूद बनी रही, या पूरी तरह से नष्ट नहीं हुई। इन देशों में हमें प्रायः राष्ट्रीय आन्दोलनों के बुर्जुआ नेतृत्व का भी अधिक रैडिकल चरित्र देखने को मिलता है और राष्ट्रीय जनवाद के कार्यभार भी इन देशों में सापेक्षतः अधिक रैडिकल ढंग से पूरे हुए। चीन जैसे कुछ देशों में किसी एक औपनिवेशिक शक्ति की निर्णायक जीत नहीं होने के कारण, पूरा देश कई औपनिवेशिक शक्तियों के प्रत्यक्ष-परोक्ष नियन्त्रण के इलाकों में बँटा रहा और अति सीमित सम्प्रभुता वाली एक देशी केन्द्रीय सत्ता भी बनी रही, इसीलिए अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक चीन में भी वहाँ की सामाजिक-आर्थिक संरचना को नष्ट करके पूरे देश पर एक औपनिवेशिक सामाजिक संरचना आरोपित नहीं की जा सकी। यही मूल कारण था कि वहाँ साम्राज्यवाद से नाभिनालबद्ध दलाल पूँजीपति वर्ग के साथ ही राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति के लिए चेष्टारत और एक हद तक उसको नेतृत्व देने में सक्षम एक ऐसा राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग भी मौजूद था, जिसके अग्रणी प्रतिनिधि एवं सिद्धान्तकार के रूप में सुनयात सेन ने 1911 की राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का नेतृत्व किया जिस क्रान्ति ने अपने अधूरेपन के बावजूद नयी जनवादी क्रान्ति की पूर्वपीठिका तैयार की। चीनी कम्युनिस्टों की सफलता के पीछे भी कहीं न कहीं यह ऐतिहासिक कारण भी मौजूद था कि उनका नेतृत्व पूरी तरह किसी औपनिवेशिक सामाजिक संरचना की कोख से नहीं जन्मा था और अपने समाज-विकास की आन्तरिक गति से पूरी तरह से विच्छिन्न नहीं था।

भारत की परिस्थिति उपरोक्त श्रेणियों से सर्वथा अलग थी। प्राक्-औपनिवेशिक भारत प्रचुर प्राकृतिक सम्पदा के साथ ही विपुल सामाजिक सम्पदा और सुदीर्घ-समृद्ध इतिहास से युक्त देश था जो एक ऐसे संक्रमण की दहलीज़ पर खड़ा था, जब सामयिक तौर पर तो गतिरोध, संकट और विघटन की स्थिति बनी हुई थी, लेकिन इस स्थिति के गर्भ में एक नयी सामाजिक आर्थिक-संरचना का स्वस्थ शिशु पल रहा था। अठारहवीं शताब्दी में विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में भारत के सापेक्षतः पिछड़ जाने के कारण मध्यकालीन भारत की सामाजिक-आर्थिक विशिष्टताओं में निहित थे, लेकिन यह पिछड़ापन भी पूँजीवादी विकास के साथ किसी न किसी रूप में टूटता, इसकी पूरी सम्भावना थी। यदि पश्चिमी यूरोप जैसी तेज़ गति के साथ नहीं,

तो फिर रूस जैसी मन्थर गति के साथ ही सही, लेकिन पूँजीवादी विकास तो यहाँ अवश्यम्भावी था। इतिहास में यहाँ संयोग के पहलू ने भी एक भूमिका निभायी कि ठीक ऐसे ही गतिरोध भरे संक्रमण काल में यहाँ यूरोपीय उपनिवेशवादियों ने प्रवेश किया और इनके बीच के संघर्षों में ब्रिटिश उपनिवेशीवादी विजयी होकर अपनी उद्देश्य-पूर्ति के लिए तेज़ी से आगे बढ़ गये।

यहाँ पर उपनिवेशवाद के एक और पहलू की चर्चा ज़रूरी है। अलग-अलग उपनिवेशवादी शक्तियों की नीतियों में अन्तर का भी उपनिवेशों की स्थिति और नियति पर प्रभाव पड़ा। इस मायने में अंग्रेज़ सबसे दक्ष उपनिवेशवादी सिद्ध हुए। यह दक्षता उन्होंने ब्रिटेन में वर्ग-संघर्ष की संश्लिष्ट और विशिष्ट दीर्घकालिक प्रकृति से अर्जित की थी और इसमें इस तथ्य का भी हाथ था कि व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा में उन्होंने अन्य यूरोपीय ताकतों को पीछे छोड़ दिया था तथा औद्योगिक क्रान्ति की प्रक्रिया वहाँ अन्य यूरोपीय देशों से पहले प्रारम्भ और सम्पन्न हो गयी थी। अपने उपनिवेशों में उन्होंने ज़्यादा व्यवस्थित ढंग से औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना का निर्माण तथा अपनी सत्ता के स्थानीय अवलम्बों के रूप में नये सामाजिक वर्गों का विकास किया था, राष्ट्रीय संघर्षों का अधिक कुशलतापूर्वक, छल-बल से सामना किया था और जब पीछे हटने का समय आया तो कम से कम नुक़सान उठाकर अपने आर्थिक हितों को अधिकतम सम्भव सीमा तक बरकरार रखते हुए पीछे हटने में भी सफल हुए थे।



भारत में प्रवेश करने के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने व्यापार की आपसी प्रतिस्पर्द्धा में अन्य यूरोपीय कम्पनियों को जल्दी ही पीछे छोड़ दिया और यहाँ की फूट एवं कलह की आन्तरिक स्थिति का लाभ उठाकर व्यापार का एकाधिकार प्राप्त कर लिया। देश के भीतर और बाहर खुले समुद्र में व्यापार की सुरक्षा के लिए कम्पनी को समुद्री बेड़ों, सैन्य-शक्ति और क़िलों की ज़रूरत थी, जिसके लिए पहले उसने अपने नियन्त्रण वाले बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के तटीय क्षेत्रों की जनता से बलपूर्वक करों की उगाही शुरू की। प्लासी की लड़ाई के बाद विधिवत उपनिवेशीकरण की शुरुआत हुई। विजित क्षेत्रों के सामन्ती शासकों की धन-सम्पत्ति हड़पने के बाद कम्पनी ने किसानों और दस्तकारों से कर-उगाही की भी शुरुआत कर दी। साथ ही, राजनीतिक शक्ति का लाभ उठाकर किसानों और दस्तकारों से उनका माल भी बलात मनमानी क़ीमतों पर हड़पा जाने लगा। लूट और व्यापार मिलकर एक हो गये। किसानों-दस्तकारों की तबाही के साथ ही दुर्भिक्षों का भी सिलसिला शुरू हो गया और इस अकूत लूट से संचित पूँजी ने ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

उपनिवेशीकरण के दूसरे दौर में, भारत की अपनी सामाजिक-आर्थिक संरचना को सिलसिलेवार नष्ट करके एक नयी संरचना को आरोपित करने की शुरुआत हुई। इस समय तक इंग्लैण्ड में नया उभरता हुआ उद्योगपति इतना शक्तिशाली हो चुका था कि उसने व्यापारी पूँजीपतियों को पीछे धकेलना शुरू कर दिया। 1813 में कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार को समाप्त करके मुक्त व्यापार के द्वार खोल दिये गये। इस समय तक भारतीय दस्तकारी और उभरते हुए उद्योग तबाह हो चुके थे, ढाका और सूरत वीरान हो चुके थे, कारीगर शहरों को छोड़कर गाँवों की ओर भागने लगे थे और पहले से ही बदहाल खेती पर आबादी का दबाव तेज़ी से बढ़ने लगा था। ब्रिटिश उद्योगपतियों के वर्ग-हित का तकाज़ा था कि भारत की लूट से ही शक्तिशाली हो चुके ब्रिटिश उद्योगों के लिए भारत को कच्चे माल के स्रोत और तैयार माल के बाज़ार में बदल दिया जाये। “स्वतन्त्र प्रतियोगिता” के इस दौर में, पिछड़ चुकी और तबाह हो रही भारतीय दस्तकारी की पराजय एवं अन्तिम बर्बादी निश्चित थी और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक यह प्रक्रिया कमोबेश पूरी हो चुकी थी। भारतीय अर्थव्यवस्था को पूरी तरह ब्रिटिश औद्योगिक पूँजी के अधीन करने के लिए यहाँ की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में मूलभूत बदलाव ज़रूरी था। स्थायी बन्दोबस्त, रैयतवारी और महालवारी प्रणाली के द्वारा यहाँ के भूमि-सम्बन्धों को मूलभूत रूप से बदलकर एक ऐसी अर्द्धसामन्ती भूमि व्यवस्था कायम की गयी जिसमें राज्य और किसानों के बीच भू-राजस्व इकट्ठा करने वाले बिचौलिये के रूप में ज़मींदारों, काश्तकार ज़मींदारों और बड़े मालिक किसानों का एक वर्ग उभरा जिसके शीर्ष पर पुरानी व्यवस्था के सामन्ती भू-स्वामियों का हिस्सा शामिल था। काश्तकार किसानों और रैयतों के शोषक के रूप में ग्रामीण महाजनों का एक नया वर्ग भी उभरा। लगान की दर और व्यवस्था निर्धारित कर दी गयी। ज़मीन को अब पूरी तरह से बिकाऊ माल बना दिया गया। अपनी सापेक्षिक स्वायत्तता को खोकर भारतीय गाँव उपनिवेशवाद के द्वारा पूरे देश और दुनिया के बाज़ार से जुड़ गये और भारत औद्योगिक ब्रिटेन का एक कृषि प्रधान उपनिवेश बन गया। इस तरह कृषि से दस्तकारी और दस्तकारी से उद्योग तक की भारतीय समाज की स्वाभाविक विकास-यात्रा की सभी सम्भावनाएँ हमेशा के लिए समाप्त हो गयीं। भारत में औपनिवेशिक संरचना और शासन प्रणाली के सुव्यवस्थित संचालन के लिए अब बाबुओं के रूप में पढ़े-लिखे भारतीयों की एक बड़ी संख्या तैयार करने वाली शिक्षा-प्रणाली की तथा एक न्यायिक व्यवस्था की भी ज़रूरत थी। इस प्रक्रिया को उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पूरा कर लिया गया जिसके चलते औपनिवेशिक समाज का एक नया मध्य वर्ग अस्तित्व में आया। जिन्हें आज ‘बंगाल नवजागरण’ का पुरोधा कहा जा रहा है, वे इसी मध्य वर्ग के हितों-आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करते थे।

औपनिवेशिक काल का तीसरा चरण मोटे तौर पर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध को माना जा सकता है। इस समय तक औद्योगिक क्रान्ति का काम पूरा हो चुका था और यूरोप में अपनी श्रेष्ठता निर्णायक रूप से स्थापित करने के लिए अब ब्रिटिश कल-कारखानों के लिए और बड़े पैमाने पर कच्चे माल की तथा तैयार माल के लिए बाज़ार की ज़रूरत थी। इसके लिए पूरे देश में पुरानी सड़कों की मरम्मत, नयी सड़कों के निर्माण, रेलों के निर्माण, और नहरों के निर्माण की शुरुआत की गयी। मार्क्स ने पहले इसी प्रक्रिया के दोहरे परिणामों का अनुमान लगाते हुए उपनिवेशवाद द्वारा पूँजीवादी विकास के बीजारोपण की बात की थी। लेकिन व्यवहारतः ऐसा नहीं हुआ (जिस पर बाद के दौर में मार्क्स-एंगेल्स का भी ध्यान गया)। निर्माण का पूरा खर्च भारत से ही निचोड़ा गया, लेकिन रेलों ने कच्चे और तैयार माल को लाने-ले जाने के अतिरिक्त भारतीय जीवन पर विकास का कोई प्रभाव नहीं छोड़ा। नहरों ने कपास, गन्ना, पटसन, तिलहन आदि व्यावसायिक फ़सलों को बढ़ावा दिया, लेकिन इससे किसानों को कोई लाभ नहीं हुआ क्योंकि उत्पादन-वृद्धि से कहीं अधिक लगान में बढ़ोत्तरी कर दी गयी। लगान अभी भी पूर्ववत् लूट का एक प्रमुख साधन बना हुआ था। इस समय तक ब्रिटेन में बड़ी मात्रा में अतिरिक्त पूँजी संचित हो चुकी थी, जिसका यदि गृह-उद्योगों में ही निवेश किया जाता तो मज़दूरों की सौदेबाजी की शक्ति बढ़ने से मुनाफ़ा घटने लगता। इसलिए अतिरिक्त पूँजी के सुरक्षित नियोजित निवेश तथा उपनिवेशों में उपलब्ध सस्ती श्रम शक्ति का लाभ उठाने के लिए एक नयी प्रक्रिया की शुरुआत हुई और वह थी – वित्तीय पूँजी का निर्यात। 1860 के बाद भारत में बड़े पैमाने पर जिन क्षेत्रों में ब्रिटिश पूँजी लगी, वह थे : सरकार को ऋण (यानी ब्याज के नाम पर जनता का दोहन), रेल निर्माण, सिंचाई परियोजनाएँ, चाय-कॉफी व रबर के बागान, कोयला खानें, जूट मिलें, ड्राम-वे तथा बैंकिंग व बीमा। लेकिन मुद्रा पूँजी के साथ ही भारत को माल पूँजी का निर्यात भी जारी रहा। साथ ही लूट का पुराना तरीका भी जारी रहा जिसे अब 'ट्रिब्यूट' का नाम दे दिया गया और इस धनराशि को 'गृहशुल्क' के रूप में इंग्लैण्ड भेजा जाता रहा। 1851 से 1901 के बीच इस रक़म में भी सात गुने की वृद्धि हुई और इससे इंग्लैण्ड में वित्तीय पूँजी के विकास में महत्वपूर्ण मदद मिली। इस आर्थिक प्रक्रिया के साथ ही इस बात को भी याद रखना होगा कि 1857 के महासंग्राम के बाद, कम्पनी-शासन की समाप्ति और भारत के सीधे ब्रिटिश क्राउन के मातहत हो जाने (जिसका एक प्रमुख कारण ब्रिटेन में औद्योगिक पूँजी का निर्णायक वर्चस्व था) के बाद भारत में यातायात-संचार के साधनों के तेज़ विकास का एक अहम कारण सम्भावित विद्रोहों को कुचलने के लिए सेना की गतिशीलता को बढ़ाना और औपनिवेशिक सत्ता का सुदृढ़ीकरण भी था। भारत में खड़े हुए ब्रिटिश उद्योगों, सेवा क्षेत्र और शासन तन्त्र के संचालन के लिए ज़रूरी भूमिका निभाने वाले औपनिवेशिक समाज के नये मध्य वर्ग के साथ ही मध्यकाल से भिन्न एक नया व्यापारी वर्ग भी इस दौर में तेज़ी से फला-फूला जो ब्रिटिश सत्ता के प्रति पूरी तरह से वफ़ादार था।

औपनिवेशिक शासन का अन्तिम दौर तब शुरू होता है जब उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक ब्रिटिश उद्योग पूरी तरह से वित्तीय पूँजी के अधीन हो चुके थे। यह इज़ारेदार पूँजीवाद का – साम्राज्यवाद का दौर था। इस दौर में ब्रिटेन से वित्तीय पूँजी का निर्यात (तैयार माल के निर्यात की तुलना में) प्रधान प्रवृत्ति बन गया, लेकिन साथ ही औपनिवेशिक लूट के पुराने तरीके भी जारी रहे। इस सन्दर्भ में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि 1914 तक भारत में लगी ब्रिटिश पूँजी का 97 प्रतिशत भाग सरकारी काम, यातायात, बागानों और बैंकों में लगा था, यानी इनका भारत के औद्योगिक विकास से विशेष सम्बन्ध नहीं था। दूसरी बात, ब्रिटेन से तैयार माल की तुलना में वित्तीय पूँजी का निर्यात भले ही प्रधान पहलू बन गया हो, लेकिन भारत से ब्रिटेन जाने वाली पूँजी भारत में लगायी जाने वाली पूँजी से बहुत अधिक थी।

भारत की औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना में भारतीय पूँजीपति वर्ग का जन्म, उपनिवेशवादियों की इच्छा और नियति का परिणाम नहीं, बल्कि उनकी इच्छा से स्वतन्त्र गति का परिणाम था। इन भारतीय पूँजीपतियों का जन्म कृषि से उद्योग तक की विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया में बर्गों के रूप में नहीं हुआ था, बल्कि औपनिवेशिक संरचना के गर्भ से हुआ था। शुरुआत में इनका चरित्र व्यापारिक था और ये ब्रिटिश सत्ता के प्रति वफ़ादार थे। बाद में, ब्रिटिश सत्ता की मजबूरियों और साम्राज्यवाद के अन्तरविरोधों का लाभ उठाकर इनमें से कुछ ने उद्योगों में भी निवेश की शुरुआत की। पहले और दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान (और उनके बीच भी) अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा जनित ब्रिटिश उपनिवेशवादियों की विवशता का लाभ उठाकर भारतीय पूँजीपतियों ने उद्योगों में निवेश की शुरुआत की और फिर वित्तीय पूँजी के क्षेत्र में भी उनकी घुसपैठ बढ़ी।

हर वस्तु या प्रक्रिया की दो परस्पर-विरोधी गतियाँ होती हैं और फिर एक ही गति के भीतर से फिर दो परस्पर-विरोधी गतियों का जन्म होता है। औपनिवेशिक भारत में पूँजीवाद और पूँजीपति वर्ग का विकास उपनिवेशवादी नीतियों का वांछित परिणाम नहीं था बल्कि उसमें अन्तर्निहित गौण, प्रतिरोधी गति की उपज था। इस पूँजीवादी विकास को रोकने, नियन्त्रित और बाधित करने की भी उपनिवेशवादियों ने हरचन्द कोशिशें कीं और इनके परिणामस्वरूप औपनिवेशिक संरचना से जन्म के नाते पहले से ही दुर्बल और विकृत भारतीय पूँजीवाद के चरित्र में और अधिक विकृति-विरूपण पैदा हुआ।

निष्कर्ष के तौर पर, कहा जा सकता है कि भारत का पूँजीपति वर्ग कृषि-दस्तकारी-उद्योग की स्वाभाविक क्रम-विकास प्रक्रिया में विकसित नहीं हुआ था। यह बर्गों की सन्तान नहीं बल्कि औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना की उपज था।

भारतीय पूँजीवाद का इतिहास 'पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति' का इतिहास नहीं था। यह रूस जैसा भी नहीं था। यह बुर्जुआ क्रान्ति के कामों को क्रान्तिकारी ढंग से पूरा कर पाने में सर्वथा अक्षम बौना और विकलांग पूँजीपति वर्ग था। न तो यह पूरी तरह से दलाल पूँजीपति वर्ग था, न ही राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग। पूरे स्वतन्त्रता-संग्राम के दौरान इसका दुहरा चरित्र बना रहा। एक ओर अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा और दूसरी ओर जनसंघर्षों के ज्वार का लाभ उठाकर इसने राजनीतिक सत्ता हासिल की, लेकिन उसके बाद भी न तो साम्राज्यवाद से आमूलगामी विच्छेद किया, न ही बुर्जुआ भूमि-सुधारों के काम को क्रान्तिकारी ढंग से अंजाम दिया। औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना में जन्म की त्रासद विडम्बना ने जनता के विभिन्न वर्गों की स्थिति एवं चेतना को भी अलग-अलग नकारात्मक रूपों में प्रभावित किया। भारतीय निम्न पूँजीवादी क्रान्तिकारी धारा का सर्वोच्च रूप हमें भगतसिंह और उनके साथियों के चिन्तन में तथा उनके वैज्ञानिक समाजवाद के विचारों को अपनाने में दीखता है, लेकिन क्रान्तिकारी जनवाद और भौतिकवाद की दार्शनिक गहराई और सुदृढ़ विकास की प्रक्रिया यहाँ रूस (बेलिन्स्की, हर्ज़न, चेर्निशेव्स्की आदि...) जैसी नहीं दीखती। भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेतृत्व की वैचारिक कमज़ोरियों और भारत में औपनिवेशिक काल से लेकर आज तक के सांस्कृतिक-आन्दोलन और साहित्य-कला के क्षेत्र की वैचारिक कमज़ोरियों का भी एक प्रमुख कारण इस ऐतिहासिक तथ्य में देखा जाना चाहिए कि भारतीय बुद्धिजीवी समुदाय औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना की उपज था और अपने समाज में सुदीर्घ इतिहास की विकास परम्परा और उसकी आन्तरिक गतिकी से विच्छिन्न था। यह बात न केवल भारत में उपनिवेशवाद की विनाशकारी भूमिका को, बल्कि उत्तर-औपनिवेशिक भारतीय इतिहास और आज के भारत को, तथा एक नये भारत के क्रान्तिकारी ढंग से निर्माण के रास्ते की समस्याओं-चुनौतियों को भी समझने की कुंजी है और 1857 के महासंग्राम का वस्तुपरक ऐतिहासिक मूल्यांकन भी इस बात को समझने के बाद ही किया जा सकता है।



1857 का संघर्ष भारतीय इतिहास के एक सन्धिबिन्दु पर लड़ा गया था। पूरे देश पर औपनिवेशिक प्रभुत्व और औपनिवेशिक आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक-सामाजिक-शैक्षिक-वैधिक नीतियों के निर्माण एवं क्रियान्वयन के बावजूद, मूलाधार और अधिरचना दोनों ही धरातलों पर उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया अभी मुकम्मल नहीं हुई थी। अभी कुछ बचा हुआ था। प्राक्-औपनिवेशिक आर्थिक मूलाधार की मुख्यतः तबाही के बाद भी न केवल अभी पुरानी ज़मीन पर खड़े होकर लड़ने की चेतना बची हुई थी, बल्कि एक प्रशासनिक इकाई बन जाने के बाद, देशव्यापी रूप से एकजुटता का एक आधार भी बना था और औपनिवेशिक दासता की चरम बर्बरता ने जीवन-मृत्यु के संघर्ष की पूर्वपीठिका निर्मित कर दी थी। इसके पहले अलग-अलग इलाकों में किसानों और आदिवासियों ने विदेशी सत्ता के विरुद्ध लगातार विद्रोहों का जो सिलसिला बनाये रखा था, उनकी तुलना में यह जनसंघर्ष न केवल देशव्यापी, बल्कि ज़्यादा संगठित भी था। यह पूरे देश का प्रतिरोध युद्ध था। यह पुराने भारत का अन्तिम प्रतिरोध-युद्ध था। यह लड़ाई मुख्यतः भारत की पुरानी ज़मीन पर लड़ी गयी और पुराने समाज के मानव-उपादान ही इसकी मुख्य और नेतृत्वकारी शक्ति थे। इसमें पुराने भारत की बची-खुची भौतिक-आत्मिक शक्ति पूरी ताकत से जाग उठी थी और पुराने भारत का शौर्य और पराक्रम अपनी मुक्ति के अन्तिम प्रयास के लिए युद्धभूमि में उतरा था।

दूसरी ओर, ब्रिटिश उपनिवेशवादियों द्वारा आरोपित नयी आर्थिक-सामाजिक संरचना भी उस समय अपने विकास का प्रारम्भिक चरण पूरा कर चुकी थी। इसलिए इस लड़ाई में उसकी भी एक भूमिका थी। इसमें शामिल राजा और सामन्ती भूस्वामी अपनी तबाही का विरोध करते हुए भले ही अपनी पुरानी स्थिति की वापसी का स्वप्न सँजोये हुए थे, लेकिन किसानों, दस्तकारों, शहरी गरीबों और आमतौर पर किसान परिवारों से भरती सैनिकों और उनके नेताओं की चेतना दोहरी चेतना थी। एक ओर तो उनकी चेतना का एक पहलू प्राक्-औपनिवेशिक समाज के उत्पादन-सम्बन्धों से (और गौर करें कि उन उत्पादन-सम्बन्धों में भी पूँजीवाद के बीज पड़ चुके थे और राष्ट्रीय संस्कृति के संघटक अवयव भी दीखने लगे थे) से निर्मित हुआ था, तो दूसरा पहलू औपनिवेशिक काल के नये उत्पादन-सम्बन्धों से निर्धारित हो रहा था। उनकी चेतना का जो पहलू पुराने भारत के आर्थिक मूलाधार की उपज था, उसमें भी राष्ट्रीय प्रतिरोध के तत्त्व मौजूद थे क्योंकि प्राक्-औपनिवेशिक भारत पूँजीवादी विकास से सर्वथा अछूता नहीं था। और जो दूसरा पहलू औपनिवेशिक भारत में निर्मित हुआ था वह तो राष्ट्रीय स्वाधीनता की चेतना था ही, भले ही उसकी कोई मुखर अभिव्यक्ति राजनीतिक विचारों और साहित्य की दुनिया में न आयी हो (इसका कारण यह था कि राष्ट्रीय चेतना के सिद्धान्तकार की भूमिका निभाने वाला नया बुद्धिजीवी वर्ग अभी बहुत कम विकसित हुआ था और जिस स्थिति में भी था, पूरी तरह से उपनिवेशवाद के पक्ष में खड़ा था)। यानी, इतिहास के एक विशेष संक्रमण-बिन्दु में लड़े गये 1857 के महासंग्राम का दोहरा चरित्र था। यह पुराने भारत का अन्तिम प्रतिरोध युद्ध था और नये भारत का पहला स्वाधीनता-संग्राम भी। लेकिन इसका मुख्य पहलू पुराने भारत के प्रतिरोध-संघर्ष का ही था।

अकादमिक मार्क्सवादी उपनिवेशीकरण का अध्ययन एक तरह से मध्यकालीन भारत की आर्थिक-सामाजिक निरन्तरता

के रूप में करते हैं। वे इस बात को या तो समझते ही नहीं या पर्याप्त महत्त्व नहीं देते कि उपनिवेशीकरण ने भारतीय समाज की स्वतन्त्र आन्तरिक गति को तबाह करके और बाहर से तथा ऊपर से एक नयी गति आरोपित करके एक ऐसी ऐतिहासिक विकृति पैदा की, जिसका प्रभाव आगे शताब्दियों तक विभिन्न रूपों में भारतीय इतिहास पर पड़ते रहना है। इसी कारण से वे 1857 का सही महत्त्व-प्रतिपादन करने के बजाय या तो इसका अवमूल्यन करते हैं या फिर मिथ्या महत्त्व-प्रतिपादन करते हैं। इसी कारण से खोये हुए राष्ट्रीय गौरव की अतीत में खोज की प्रवृत्ति भी पैदा होती है और इसी कारण से यूरोपीय इतिहास का प्रतिरूप ढूँढ़ते-गढ़ते पुनर्जागरण-प्रबोधन जैसी किसी चीज़ की खोज की जाती रहती है। इसी कारण से राष्ट्रीय आन्दोलन का भी सन्तुलित द्वन्द्वात्मक मूल्यांकन नहीं हो पाता, भारतीय बुर्जुआ वर्ग के दोहरे चरित्र को समझे बिना कभी उसे एकदम दलाल तो कभी एकदम राष्ट्रीय घोषित कर दिया जाता है तथा 1947 में मिली आज़ादी को या तो झूठी बता दिया जाता है या फिर उसे आमूलगामी राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति घोषित कर दिया जाता है। 1857 के मूल्यांकन का प्रश्न मध्य काल से लेकर अब तक के भारतीय इतिहास का सही वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने और निष्कर्ष निकालने से अविभाज्यतः जुड़ा हुआ है।

प्रसंगवश, “पुनर्जागरण-नवजागरण” के बारे में कुछ बातें। “बंगाल रिनैसाँ” या “हिन्दी नवजागरण” का काल ऐसा काल नहीं था जब “राजशाही ने बर्गों के समर्थन से सामन्ती अभिजात वर्ग की सत्ता चूर कर दी” (एंगेल्स) हो। बर्गों और सामन्ती अभिजातों के बीच उस समय कोई युद्ध नहीं चल रहा था, न ही उस समय के किसान विद्रोहों से तथाकथित बंगाल पुनर्जागरण के पुरोधों का कुछ लेना-देना था। ये लोग यूरोपीय पुनर्जागरण के नायकों की तरह “बुर्जुआ परिसीमाओं से मुक्त महामानव” तो क़तई नहीं थे। ये ब्रिटिश औपनिवेशिक संरचना में पैदा हुए एक ऐसे शहरी मध्य वर्ग के लोग थे, जिसकी पृष्ठभूमि प्रायः लगानजीवी ज़मींदारों की थी। ये लोग स्वामिभक्त ब्रिटिश प्रजा के रूप में आधुनिक पूँजीवादी समाज का फल चखना चाहते थे। सुधारों की इनकी माँग जनता की जागृति, पहलकदमी और शक्ति के बजाय प्रशासनिक युक्तियों, विधानों और सहारों की मोहताज़ थी तथा इन्हें आम जनता की दुरवस्था से ज़्यादा लेना-देना भी नहीं था। इनके विचारों का प्रेरणा-स्रोत भारतीय इतिहास नहीं, बल्कि यूरोप था। इनकी तर्कणा का कोई स्थानीय भौतिक आधार नहीं था। जो बात राजा राममोहन राय आदि के बारे में कही जा सकती है, कमोबेश वही हिन्दी नवजागरण के पुरोधा भारतेन्दु और उनके मण्डल के बारे में भी कही जा सकती है। यदि इनको भारतीय राष्ट्रीय चेतना का प्रवर्तक मान भी लिया जाये तो भी इनकी धारा को किसी किसिम का पुनर्जागरण या उसके समकक्ष नवजागरण जैसी परिघटना नहीं माना जा सकता, क्योंकि उपनिवेशों और बहुराष्ट्रीय देशों में राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद के उद्भव एवं विकास का मार्ग यूरोप से सर्वथा भिन्न था। यदि ये भारतीय बुर्जुआ वर्ग के पूर्वज थे भी तो भारतीय बुर्जुआ वर्ग की उत्पत्ति ही यहाँ भिन्न रूप में हुई थी क्योंकि प्राक्-औपनिवेशिक भारत में जारी कृषि से दस्तकारी और दस्तकारी से उद्योग की विकास प्रक्रिया का गला पहले ही घोंटा जा चुका था। आज़ादी मिलने के साठ वर्षों बाद भी, भारत के बौद्धिक जगत में पीली, बीमार, परोपजीवी बेलों की मौजूदगी भी यही बताती है कि जिसे “भारतीय पुनर्जागरण” कहा जा रहा है, वह ऐसा कुछ भी नहीं था। किसी प्रकार का भ्रम पालने के बजाय इतिहास की वस्तुगत सच्चाई को स्वीकारने के बाद ही नये भविष्य का सृजन किया जा सकता है।

बहरहाल, 1857 की चर्चा पर वापस लौटें। उपनिवेशवाद द्वारा भारतीय समाज की स्वाभाविक आन्तरिक गति की हत्या की जो प्रक्रिया जारी थी, उसके अन्तिम, सर्वाधिक सशक्त और देशव्यापी प्रतिरोध के रूप में ही इस महासंग्राम का ऐतिहासिक महत्त्व सर्वोपरि तौर पर आँका जा सकता है। साथ ही, यह औपनिवेशिक भारत के राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम का भी प्रस्थान बिन्दु था जो अपनी पराजय के बाद भी मुक्तिकामी भारतीय जनता के लिए प्रेरणा का अक्षय स्रोत बना रहा और आज भी बना हुआ है। इस महासंग्राम में पराजय के बाद हम अपने अतीत से कट गये, अपनी परम्परा से अलग हो गये। भारतीय समाज की उस समय तक की सकारात्मक उपलब्धियाँ आम जनता की संस्कृति और इतिहास-बोध के निर्माण में सहायक बनने के बजाय विस्मृत अतीत का अध्याय बन गयीं। अब इस कमी को केवल एक प्रचण्ड वेगवाही, सर्वग्रासी सामाजिक-राजनीतिक जनक्रान्ति ही पूरा कर सकती है। उसके बाद भी औपनिवेशिक अतीत के प्रेत से पूरी तरह छुटकारा पाने में एक लम्बा समय लगेगा।

1857 के महासंग्राम के पराजय के कारण इन तथ्यों में ढूँढ़े जा सकते हैं कि यह लड़ाई पुरानी ज़मीन पर खड़े होकर लड़ी गयी थी और उपनिवेशवादी अधिक विकसित उत्पादक शक्तियों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। लेकिन मात्र इस आधार पर उस पराजय को अवश्यम्भावी मानना ऐतिहासिक नियतत्ववाद का शिकार होना माना जायेगा। आधुनिक विश्व का इतिहास साक्षी है कि पिछड़ी-उत्पादक शक्तियों वाले देशों की जनता ने कई बार बल्कि अधिकांशतः उन्नत उत्पादक शक्तियों वाले साम्राज्यवादी देशों के शासक वर्ग की भीषण सामरिक-शक्ति को भी धूल चटा दी है। एक अंग्रेज़ अफ़सर ने स्वीकार किया था कि यदि सिर्फ़ ग्वालियर ने ही विद्रोहियों का साथ दे दिया होता तो सारे समीकरण उलट सकते थे। युद्ध में सांगठनिक योजनाबद्धता की कमी और ख़ास मौकों पर हुई सामरिक रणनीति की कुछ गम्भीर चूकों की भी अहम भूमिका बन गयी। बहरहाल, यह युद्ध जीता भी जा सकता था और तब कैसा भारत होता, इसकी सम्भावनाओं पर विचार करना फ़ालतू बौद्धिक मशक्कत नहीं, बल्कि 1857 के महत्त्व को समझने के लिए ज़रूरी है।



प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि इस महासंग्राम में उपनिवेशवादियों की पराजय होती तो क्या भारत मध्यकालीन अतीत के अँधेरे में वापस नहीं लौट जाता? ऐसा मानना इतिहास के प्रति एक आधिभौतिक नज़रिया होगा। अतीत में हू-ब-हू वापसी कभी सम्भव ही नहीं होती। ब्रिटिश सत्ता की पराजय के बाद, बहुत कम सम्भव था कि भारत में एक सुदृढ़ केन्द्रीय सामन्ती सत्ता स्थापित हो पाती। यदि ऐसा होता भी, यह चाहे जो भी होता, 1857 ने आम जनता की जिस ऊर्जा और पहलकदमी को निर्बन्ध किया था, उसे समाप्त नहीं किया जा सकता था और उसे इतिहास-निर्माण की सक्रिय शक्ति बन जाने से रोका नहीं जा सकता था। चाहे जो भी होता, इस संग्राम में विजय और औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना के ध्वंस के बाद, भारतीय समाज की उस मूल आन्तरिक गति का फिर से बहाल हो जाना अवश्यम्भावी था, जिसकी स्वाभाविक परिणति के तौर पर भारत में स्वस्थ ढंग से पूँजीवादी विकास की प्रक्रिया आगे कदम बढ़ाती। मुमकिन था कि यदि कोई केन्द्रीय सत्ता होती भी तो नाममात्र की ही होती और पूरा देश कुछ समय के लिए अलग-अलग सामन्ती अधिपतियों के शासन के अन्तर्गत आ जाता, लेकिन इस स्थिति में भी सामाजिक अन्तरविरोधों का क्रमशः उग्र होते जाना और पूँजीवादी विकास-प्रक्रिया का आगे डग भरना लाज़िमी था (जैसा कि प्राक्-औपनिवेशिक भारत में हो रहा था)। मुमकिन था कि कई सामन्ती शासक भी बुर्जुआ तत्त्वों का पक्ष लेते और स्वयं बुर्जुआ चरित्र अपना लेते (ऐसा यूरोप में भी हुआ था कि कई राजकुमारों ने बुर्जुआ क्रान्तियों के पक्ष में भूमिका निभायी थी)। यह भी याद रखना होगा कि कई राजशाहियों ने सामन्ती अभिजातों के विरुद्ध संघर्ष में बर्गरों का पक्ष लिया था। अतः राजतन्त्र व्यवस्था हर हाल में सामन्ती अभिजातों की ही पक्षधर होगी, यह मानना भी ग़लत होगा। यदि कोई केन्द्रीभूत निरंकुश सामन्ती सत्ता कायम भी हो जाती, तो उसके अन्तर्गत भी पूँजीवादी विकास की प्रक्रिया चल पड़ती, जैसा कि उन्नीसवीं शताब्दी में ज़ारशाही के अन्तर्गत रूस में हुआ। लेकिन ज़्यादा सम्भावना इसी बात की थी कि ब्रिटिश सत्ता की पराजय के बाद भी भारत में औपनिवेशिक दखलन्दाज़ी समाप्त नहीं होती और इस सूरत में पूरा देश अलग-अलग औपनिवेशिक शक्तियों के परोक्ष-प्रत्यक्ष नियन्त्रण के क्षेत्रों में (कुछ-कुछ चीन की तरह) विभाजित हो सकता था। ऐसे में एक अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना अस्तित्व में आती, लेकिन इसकी विशेषता यह होती कि भारतीय समाज की अपनी स्वतन्त्र आन्तरिक गति को पूरी तरह नष्ट कर पाना सम्भव नहीं होता और तब देश का इतिहास शायद कुछ और ही होता।

1857 के महासंग्राम में हिस्सा लेने वाली आम जनता की ही नहीं, बल्कि राजाओं-नवाबों और सामन्ती भू-स्वामियों की भी भूमिका ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिशील थी (और उन्हें बेहिचक देशभक्त भी कहा जा सकता है) क्योंकि वे भारतीय समाज की अपनी स्वतन्त्र गति, या कहें कि इतिहास-विकास की आन्तरिक गति की हिफ़ाज़त के पक्ष में खड़े थे। दूसरी बात यह कि तत्कालीन मुख्य अन्तरविरोध को देखते हुए उनका पक्ष जनता का पक्ष था, यानी वे इतिहास की प्रगतिकामी धारा के साथ खड़े थे। यह मानना कि सामन्तों की भूमिका किसी भी स्थिति में प्रगतिशील या देशभक्त नहीं हो सकती, एक वर्ग-अपचयनवादी (क्लास-रिडक्शनिस्ट) या यान्त्रिक भौतिकवादी नज़रिया होगा। इस दृष्टिकोण से देखें तो रूसी इतिहास में भयंकर इवान या पीटर महान का ऐतिहासिक रूप से सकारात्मक मूल्यांकन किया ही नहीं जा सकता। इसी बात को नहीं समझ पाने के कारण ज्योतिबा फुले ने 1857 के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया और दलित जातियों के उत्थान के लिए उपनिवेशवाद का समर्थन किया (बीसवीं शताब्दी में अम्बेडकर भी इसी दृष्टि-दोष के शिकार रहे)। वे यह नहीं देख सके कि जाति प्रथा का कथित तौर पर अंग्रेज़ों ने विरोध किया लेकिन उन्हीं के द्वारा स्थापित भूमि व्यवस्था ने गाँवों में दलित-उत्पीड़न की निरन्तरता का नया आधार तैयार किया। यदि भारत अपनी स्वाभाविक आन्तरिक गति से आगे बढ़ता और यहाँ क्रान्तिकारी ढंग से पूँजीवादी जनवाद और उसके मूल्यों का विकास होता तो जाति व्यवस्था के उन्मूलन की प्रक्रिया ज़्यादा स्वाभाविक ढंग से विकसित होती। इसका पूर्वसंकेत लोकवादी एकेश्वरवादी आन्दोलन ने मध्य काल में ही दे दिया था।

हम समझते हैं कि 1857 के महासंग्राम की महत्ता का आकलन सही ढंग से इसी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में किया जा सकता है और इसकी प्रगतिशील भूमिका को तभी सही ढंग से पहचाना जा सकता है। परिप्रेक्ष्य को ठीक करने की ज़रूरत है। लेकिन इस विषय पर अभी और विस्तार एवं गहराई से सोचने की ज़रूरत है और बहस भी ज़रूरी है। लेकिन जड़सूत्रवाद से और तयशुदा निष्कर्षों के पक्ष में मनोगत ढंग से तथ्य जुटाने की प्रवृत्ति से मुक्त होने के बाद ही कोई बहस सार्थक हो सकती है।

• • •